

स्यात्प्रतिक्रमणा भक्तिः प्रतिक्रमेत्ततो ऽपी ।

वीस्तुतिर्निस्तुत्या सह . शान्तिबुक्तिर्मता ॥

वृत्ता लो ह्यासा सार्धं गुणी सूस्तिस्ततः ।

गुण्य लो ह्यासा सार्धं मध्याचार्यस्तुतिस्तथ ॥

स्यमता सर्वाभूतेषु उक्त्यादिपठकरसिद्धन्तुद्वेषकर्म उक्त्यादि उक्ते सिद्धभक्ति और येने-त्रन् उक्त्यादि उक्ते चारिभक्ति करते हैं । तथा अर्हन्त भक्तान्केसम्मुख इच्छामि इते ! पवित्रयमि अतो हेऊडसे ते कर प्रिय गुणसंपत्ति होऊ मज्जे उपर्यन्त बृहती अतो ह्या करते हैं । यह अचार्य, शिष्य तथा सधर्माओं की क्रिया समान है - सर्वाति चरुषु ध्यर्थ पाक्षिकप्रतिक्रमणक्रियायां पूर्वा चर्यानुक्रमेण सकतकर्म क्षयार्थं भक्त्या चरुषु स्तुत्यासमेतं सिद्धभक्ति कायोत्सर्ग करोम्यहम् । अर्थात् में सक देषों की धिबुद्धिके लिए इस पाक्षिक प्रतिक्रमण क्रियामें पूर्वा चर्यों के अनुसार समस्त कर्मों के क्षयके लिए भक्त्या चरुषु स्तुतिके साथ सिद्धभक्ति कायोत्सर्ग करता हूँ । इसी तरह चारिभक्ति के पहले यह वाक्य बो र्ना चाहिए - सर्वाति चरुषु ध्यर्थ ओ लो ह्या चरिभक्ति कायोत्सर्ग करोम्यहम् । किन्तु अचार्य पमो अहं तापं उक्त्यादिनामस्कार मन्त्रके पाँचों पदों को पठकर कायोत्सर्ग करके थो सा सिद्ध उक्त्यादि पठकर फिर तदासिद्ध उक्त्यादि गाथाको अंगिका सहित पठकर, पूर्वोक्त विधि करते हैं । फिर छेदेवाहुए होतु मज्जे उतक तीना बार पठकर देके अने अपने देषों की अतो ह्या करते हैं । तथा देषके अनुसार प्रायश्चित्त ते कर पं च महाप्रतम् उक्त्यादि पाठको तीना बार पठकर यो य शिष्य अदिसे अपने प्रायश्चित्तको कहकर देके प्रति गु स्मृति करते हैं । यहाँ भी नामो अस्तु सर्वाति चरुषु ध्यर्थ सिद्धभक्ति कायोत्सर्ग करोम्यहम् उतथानामो अस्तु सर्वाति चरुषु ध्यर्थ अतो ह्या चरिभक्ति कायोत्सर्ग करोम्यहम् उतथानामो अस्तु निष्ठपना चर्य भक्ति कायोत्सर्ग करोम्यहम् उये तीनों वाक्य क्रम से उच्चारण किये जाते हैं । इसके बाद उक्त अचार्य प्रायश्चित्त कर तें तो उाके अने शिष्य और सधर्मा साधु त हुसिद्धभक्ति, त हुयोभक्ति, चारिभक्ति तथा अतो ह्या करके अपने - अपने देषों के अनुसार प्रायश्चित्त तें फिर श्रुत ऋतधि उक्त्यादित हु अचार्य भक्ति के वरु अचार्य की वन्ता करें । फिर अचार्य, शिष्य, सधर्मा सक मिठकर प्रतिक्रमण भक्ति करें । अर्थात् सर्वाति चरुषु ध्यर्थ पाक्षिकप्रतिक्रमणक्रियायां पूर्वा चर्यानुक्रमेण सकतकर्म क्षयार्थं भक्त्या चरुषु स्तुत्यासमेतं प्रतिक्रमण भक्ति कायोत्सर्ग करोम्यहम् उ यह दो तकर पमो अहं तापं उक्त्यादि दण्डकको पठकर कायोत्सर्ग करूँ चाहिए । त हुसिद्धभक्ति अदितो साधुओं की भी अचार्य के समाना जनना । किन्तु अचार्य की वन्ता होनेके बाद अचार्य को थो सा सिद्ध उक्त्यादि दण्डकको पठकर और

१. यह सामाधिक दण्डक है ।

२. यह त्तुर्दिशति स्तुति है । ये सक दण्डक और भक्ति पाँच . पन्नाता उ जी सोनीके वरु सं गृहीत क्रिया कलापमें है ।

त धी सू स्ति श्चेति पाक्षिका वै प्रतिक्रमे ।

उन्नाधिक धिषु ध्यर्थ सर्वात् प्रिय भक्ति का ॥

दृत्ता लो ऋषा सार्धं तु वृत्ता लो ऋषा क्रमात् ।

सूरिद्वयस्तुतिमुक्त्वा शेषाः प्रतिव्रज्याः क्रमात् ॥ ७

उपशान्तिको पठकरप्रतिव्रज्यपदण्डको पठना चाहिए । शिष्य और सधर्माको तद्वत्क कायोत्सर्ग में रहकर प्रतिव्रज्यपदण्डको सुनना चाहिए ।

इसके पश्चात् साधुओंको थोसाभिडं ज्ञयादि दण्डको पठकर अर्घ्यके साथ धात्समिदित्यरेषोऽङ् ज्ञयादिपठकरवीस्तुति करनी चाहिए । अर्थात् - 'सर्वाति घृष्टीषु ध्वयर्थ पाक्षिकप्रतिव्रज्यपत्रिणायां पूर्वा चर्यानुक्रमेण सकतकर्म क्षयार्थं शान्तिपूजात्वास्तासमेतं निष्ठितकरणी रभितकयोत्सर्ग करे म्यहम् । इयह पठकर 'पमो अहं तापं ऽङ् ज्ञयादि दण्डको पठकर कायोत्सर्ग में कहे हुए उच्छ्वासोंको करके फिर थोसाभिडं ज्ञयादि दण्डको पठे । फिर 'ह्रस्वमिदं ह्रस्वमिदं गौरं ऽङ् ज्ञयादि शान्तिपूजाके पठकर यः सर्वापि ह्रस्वमिदं ऽङ् ज्ञयादि रभितको अंशिकके साथ पठकर धात्समिदित्यरेषोऽङ् ज्ञयादिपठना चाहिए । इसके पश्चात् अर्घ्य सहित सङ् संभियोंको - 'सर्वाति घृष्टीषु ध्वयर्थं शान्तिस्तुतिं श्रुतितीर्थकरभितकयोत्सर्ग कर म्यहम् । इयह कहकर 'पमो अहं तापं ऽङ् ज्ञयादि दण्डको पठकर कायोत्सर्ग करके धात्समिदं ज्ञयादि दण्डको पठकर शान्तिनाथकी दिवाय रक्षां ऽङ् ज्ञयादिस्तुति तथा 'ह्रस्वमिदं तित्ययरेऽङ् ज्ञयादि चोमीस तीर्थकरे की स्तुति करके अंशिका सहित धात्समिदित्यरेषोऽङ् ज्ञयादिपठना चाहिए । उसके बाद सर्वाति घृष्टीषु ध्वयर्थं चरित्त लो ऋषा चर्य भितकयोत्सर्ग करे म्यहम् । इयह पठकर 'इच्छमि ह्रस्वमिदं चास्ति चरे ते हृदिहो पश्चि स्तीवे ऽङ् ज्ञयादि दण्डके द्वय साध्य तद्गु चरित्त लो ऋषाकेसाथ बृहत् आ चर्य भित करनी चाहिए ।

इसके बाद धात्समिदित्यरेषोऽङ् ज्ञयादि पठकर सर्वाति घृष्टीषु ध्वयर्थं बृहव लो ऋषा चर्य भितकयोत्सर्ग करे म्यहम् । इयह पठकर फिर 'पमो अहं तापं ऽङ् ज्ञयादि दण्डको पठकर 'इच्छमि ह्रस्वमिदं पक्खयमि अ लो ह्रस्वपण्णासापं दिासापं ऽङ् ज्ञयादि बृहत् अ लो ऋषासे सहित देसकुत्त ज्ञुध्व ऽङ् ज्ञयादिमध्य बृहवचर्य भित करनी चाहिए ।

इसके बाद अर्घ्य सहित साधुओंको धात्समिदित्यरेषोऽङ् ज्ञयादिपठकर सर्वाति घृष्टीषु ध्वयर्थं ध्रुत्क लो ऋषा चर्य भितकयोत्सर्ग करे म्यहम् । इयह उच्चारण करके पूर्वार्त् दण्ड अदि पठकर प्राङ् प्राप्तरमस्तशास्त्रहृदयः ऽङ् सो ते करमो क्षमा र्गो पदेशकः ऽङ् पर्यन्त तद्गु आ चर्य भित करनी चाहिए । इसके बाद सङ् अती चर्ये की दिाधुदिके त्ति ए सिध्दभित, चरित्त भित, प्रतिव्रज्य भित, निष्ठिताकरण, वीरभित, शान्ति भित, चतुर्दि श्रुतितीर्थ करभित, चरित्त भित, अ लो ऋषा सहित अ चर्य भित, बृहत् अ लो ऋषासहित अ चर्य भित, ध्रुत्क अ लो ऋषा सहित अ चर्य भित, करके उा में हीनाता, अधिकता अदि दोषोंकी दिाधुदिके त्ति ए समाधि भितपूर्वाक कायोत्सर्ग करनी चाहिए । और पूर्वार्त् दण्ड अदि पठकर शास्त्राशासो जिनापतिनुतिः ऽङ् ज्ञयादिप्रार्थना करनी चाहिए । अ य ऽङ्गों में ही ऐसा ही दिाधान है । यथा -

पाक्षिक अदिप्रतिव्रज्यपमें अहन्त वेऽ अथवा अ चर्यकेसम्मुख सिध्दभित, चरित्त भित और बृहद् अ लो ऋषाकेबाद तद्गु सिध्दभित और तद्गु शोभित की जाती

चारिऋसारेऽयुक्तम् - पाक्षिक - चातुर्मासिक - सांवात्सरिकप्रतिव्रमपे
सिध्दचारिऋप्रतिव्रमपनिष्ठित करण इ चतुर्दशति तीर्थ करभक्ति चारिऋ लो ऋाऽु स्मवतवो
बृहव लो ऋाऽु स्मवित र्छे षीवस्या चर्य भक्ति श्च करपीया इति ॥ ५६ ॥

अथ यतीनां श्रादाकपां च श्रुतपञ्चमीक्रियाप्रयो ऋिषि शतो कव्योनाह -

बृहत्या श्रुतपञ्चम्यां भवत्या सिध्दश्रुतार्थया ।
श्रुतस्कन्धं प्रतिष्ठप्य तृहीत्या वा ऋां बृहन् ॥ ५७ ॥
क्षम्यो तृहीत्या रूपाध्यायः कृत्या शान्तिन्नुतिस्ततः ।
यमिनां तृहिपां सिध्दश्रुत शान्तिस्तथाः पुनः ॥ ५८ ॥

श्रुतपञ्चम्यां - ज्येष्ठश्रुतपञ्चम्याम् । वा ऋां - श्रुतप्रातारिपदेशम् ॥ ५७ ॥ क्षम्यः -
बृहच्छ्रुत भवत्या निष्ठप्य इत्यर्थः । तृहीत्या - बृहच्छ्रुता चर्य भक्तिथां प्रतिष्ठप्य इत्यर्थः । एतच्च
बृहन्निविदिषेषपात्त्वथते । तृहिपां इरूपाध्यायग्राहिपां श्रादाकपाम् । अतं च चारिऋसारे-पञ्चम्यां
सिध्दश्रुत भक्तिपूर्विकां

है । फिर चारिऋ लो ऋापूर्विक प्रायश्चित्त कसा चाहिए । उसके बाद साधुओं को तद्दुअ चर्यपूर्विक
अ चर्य की वन्त्वा कसी चाहिए । फिर अ चर्य सहित सद् साधुओं को प्रतिव्रमप भक्ति करनी चाहिए ।
तद् अ चर्य प्रतिव्रमप करते हैं । उसके बाद वीरभक्ति और चतुर्दशति तीर्थ कर भक्तिके साथ
शान्ति भक्ति कसी चाहिए । फिर चारिऋ लो ऋाकेसाथ बृहत् आ चर्य भक्ति कसी चाहिए । फिर बृहत्
अ लो ऋाकेसाथ मध्य आ चर्य भक्ति कसी चाहिए । फिर तद्दु अ चर्य भक्ति कसी चाहिए । अतमें
हीनता और अधकृता वेषकी विषुध्दिकेठि एसमाधि भक्ति कसी चाहिए । चारिऋसासैं भी कहा है -
पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिव्रमपमें सिध्दभक्ति, चारिऋभक्ति, प्रतिव्रमप, निष्ठित करण,
चतुर्दशति और तद्दु अ चर्य भक्ति कसी चाहिए ।

इन्धकरपं . अश्वरजीने अग्नी संस्कृत टीकमें अतमें लिखा है, यहाँ तो हमने दिश्रमात्र
बत लयी है । किन्तु साधुओं को प्रौढ अ चर्य केपासमें दिस्तासै सद् जना - देखकर कसा चाहिए ।
साधुओं केअभावा या उाकी विरुताकेकारण प्रतिव्रमपकी विधिकर ज्ञान हीन होता गया ऐसा तता है ।
अ उनके साधु, अ चर्यों सैं भी प्रतिव्रमपकी विधिकर ज्ञान अत्यत्त है । अस्तु, व्रताचेपप अदि विषयक
प्रतिव्रमपों सैं नु रूअ चर्य भक्ति और मध्य आ चर्य भक्ति नाही की जाती । कहा है -शेष प्रतिव्रमपों सैं
चारिऋ लो ऋा, बृहत् अ लो ऋा और वेनो अ चर्य भक्तियों को छेडकर शेष विधिकर से होती है ॥ ५२-
५६ ॥

अने मुनियों और श्रादाकोंकेठि एश्रुतपं ऋीकेठिकाकी क्रियाकी विधान कहते हैं -

साधुओं को ज्येष्ठश्रुतपञ्चमीकेठिका बृहत् सिध्दभक्ति और बृहत् श्रुत भक्तिपूर्विक श्रुतस्कन्धकी
स्थापना करकेवा ऋा अर्थात् श्रुतकेआतास्का उदेश्य ग्रहण कसा चाहिए । उसकेबाद श्रुत भक्ति और
अ चर्य भक्ति करकेरूपाध्याय ग्रहण कसा चाहिए और श्रुत भक्तिपूर्विकरूपाध्यायको समाप्त कसा चाहिए

। समाप्तिपर शान्ति भक्ति करनी चाहिए । किन्तु जिन्हें साध्यायको ग्रहण करने का अधिकार नहीं है
उा श्रावकों को सिद्धभक्ति, श्रुत भक्ति और शान्ति भक्ति करनी चाहिए ॥ ५७-५८ ॥

विशेषार्थ - ज्येष्ठ शुक्ल पंचमीको श्रुतपंचमी कहते हैं क्योंकि उस दिन अर्घ्य पूरणीने
षट्खण्ड ग्रामकी रक्षा करके उसे पुस्तक रूढ करके उसकी पूजा की थी । तभीसे

वाङ्मां गृहीत्वा तन्मु साध्यायं गृहतः श्रुतभक्तिमाद्यर्घ्यभक्ति च कृत्वा गृहीत्साध्यायः कृतश्रुतभक्तयः
साध्यायं निष्पद्य समाप्तौ शान्तिभक्ति कुर्युर्विति ॥ ५८ ॥

अथ सिध्वन्तादिना क्रियाविदेशार्थं तदर्थ्याधिकारविषयक्रयोत्सर्गोपदेशार्थं च श्लोकद्वयमाह -

कस्यः क्रमोऽं सिध्वन्ता चराणां चोपि ।

एकैकार्थाधिकारान्तेऽनुत्सर्गस्तन्मुखान्तयोः ॥ ५९ ॥

सिध्वश्रुतमपिस्तोऽं अनुत्सर्गं क्रतिभक्तये ।

द्वितीयविकीर्णषट्षट्प्रदेयावाङ्माङ्गौ ॥ ६० ॥

कस्य इत्यादि । सिध्वन्ताङ्गां वृद्धसाहाय्यचाराणां वा सिध्वश्रुतभक्तिशां प्रतिष्पद्य
बृहत्साध्यायं च श्रुताद्यर्घ्यभक्तिशां प्रतिपद्यत इत्यादि वदते । ततश्च साध्यायं श्रुतभक्त्या निष्पद्य
शान्तिभक्त्या क्रियां निष्पद्येविति भावः । एकैकेत्यादि । अतं च चारिसारे सिध्वन्तस्यार्थाधिकारपां
समाप्तौ एकैकार्थाद्योत्सर्गं कुर्यादिति । तन्मुखान्तयोः - एकैकस्यार्थाधिकारस्यास्ये समाप्तौ च निमित्तभूते
। उत्तरेप संकथो अतः कर्तव्यः ॥ ५९ ॥

अथ संन्यासक्रियाप्रयोगविधि श्लोकद्वयेनाह -

वह दिन श्रुतपंचमीकेनामसे प्रसिद्ध है । उस दिन साधु श्रुतस्मरणकी स्थापना करके साध्याय ग्रहण
करते हैं । मासग्रहस्थको द्वदशं रूप सूक्त साध्याय करने का अधिकार नहीं है इसलिए वह केवल
भक्ति करता है । द्वदशं रूप श्रुत तो नाष्ट हो चुका हो चुका है । षट्खण्ड ग्राम, कसायपाहुड और
महासिध्वन्त ग्रन्थ तो अर्घ्यप्रणीत ग्रन्थ हैं इनका साध्याय श्रावक भी कर सकते हैं । उसीकी
विधि उपर कही है । चारिसारों में भी कहा है कि श्रुतपंचमीकेदिन सिद्धभक्ति और श्रुतभक्तिपूर्वक
वाङ्माको ग्रहण करके उसके बाद साध्यायको ग्रहण करते समय श्रुतभक्ति और अर्घ्यभक्ति पूर्वक
साध्यायको ग्रहण करे । और श्रुतभक्तिपूर्वक साध्यायको समाप्त करके अन्तमें शान्तिभक्ति करनी
चाहिए ॥ ५७-५८ ॥

सिध्वन्त अदिका वाङ्मा सम्बन्धी क्रियाकी विशेष विधि बतानेकेलिए और उसके अर्थाधिकारों के
सम्बन्धमें कायोत्सर्ग विधान करनेकेलिए दो श्लोक कहते हैं -

उपर श्रुतपंचमीकेदिन जो विधि बतलानी है वही विधि सिध्वन्त वाङ्मा और अचराणां नामों में
करनी चाहिए । अर्थात् सिध्वन्ताङ्गां और वृद्धसाधुओं के अनुसार अचराणां नामों को सिद्धभक्ति और
श्रुतभक्तिपूर्वक स्थापित करके और श्रुतभक्ति तथा अर्घ्यभक्तिपूर्वक बृहत् साध्यायको स्वीकारके
उसकी वाङ्मा दी जाती है । उसके बाद श्रुतभक्तिपूर्वक साध्यायको समाप्त करके शान्तिभक्तिपूर्वक

उस क्रिया को पूर्ण किया जाता है । तथासिध्दन्तकेप्रत्येक अर्थाधिकारके अतमें कायोत्सर्ग कसा चाहिए । तथा प्रत्येक अर्थाधिकारके अतमें और अदिमें सिध्दभक्ति और अर्घ्य भक्ति कसी चाहिए । वाङ्माकेदूरे - तीसरे आदिकों में वाङ्माकेस्थानपर छह - छह कायोत्सर्ग कसा चाहिए । सिध्दन्त अदिके अर्थाधिकारों केअन्त अदरपीय होनेसे उनकेप्रति अति भक्ति प्रदर्शित करनेकेलिए अत क्रिया की जाती है ॥ ५९-६० ॥

अने संन्यासपूर्वकमरणकी विधि दो श्लोकों से कहते हैं -

संन्यासस्य क्रिया वै सा शान्ति भवत्या दिना सह ।
अते अथ व बृहद्भवत्या ऋष्यायस्थापनोज्ज्वले ॥ ६१ ॥
यो ते ऽपि श्रेयं तन्नत्तं ऋष्यायैः प्रति घ्नस्यैः ।
ऋष्यायग्राहिणं प्राणान् तव हतकिं क्रिया ॥ ६२ ॥

अतै - संन्यासस्यास्मि । सा - श्रुतपञ्चम्युक्ता । केदारम् ऋषिसिध्दश्रुतभक्तिशां श्रुतस्कन्धवत् संन्यासः प्रतिष्ठप्यः । अते - क्षपकेक्षीते संन्यासो निष्ठप्य इति भ्याः । अथ व - अहतकिंशामन्त्रेषु किंषु । बृहद्व्यावै कर्तव्यं ज्युषस्कारः ॥ ६१ ॥

यो ते ऽपि - रात्रियो ते वार्षायो ते ऽपि वा अथ ऋषीते ऽपि सति । तं - संन्यास-वासतौ । प्रति घ्नस्यैः - क्षपकशुश्रूषकैः । प्राणान् - श्रुतपञ्चमीदृत् तद्व्यादिसंन्यासस्यास्मभिको समाप्तिको ऋषिसिध्दश्रुतशान्तिभक्तिभिर्बृहस्थैः क्रिया कार्येति भ्याः ॥ ६२ ॥

अथ अष्टाङ्गिक्रियानिर्णयार्थमाह -

कुर्वाणु सिध्दन्तवैशारुस्त्वान्तिस्तोः क्रियामष्टौ ।
शुच्युत्तपस्यसिताष्टम्यादिक्रियानि मध्याह्ने ॥ ६३ ॥

कुर्वाणु - अत्र बहुवचनिर्देशः संभूय संज्ञेवाक्रिया कार्येति ज्ञापनार्थः । शुद्धिः - अषाढः । ऊर्ध्वः - कार्तिकः । तपस्यः - फाल्गुनः ॥ ६३ ॥

अथाभिषेकान्वाक्रियां मण्डलगतो ह्यक्रियां तद्वयति -

संन्यासके अदिमें शान्तिभक्तिकेदिना श्रेयं सः क्रिया श्रुतपञ्चमीकी तरु कसी चाहिए । अर्थात् श्रुतस्कन्धकी तरु केदारसिध्दभक्ति और श्रुतभक्तिपूर्वकसंन्यासमरणकी स्थापना कसी चाहिए । तथा संन्यासके अतमें वही क्रिया शान्तिभक्तिके साथ कसी चाहिए । अर्थात् समाधिमरण करनेवालेका ऋष्याय हो जानेपर संन्यासकी समाप्ति शान्तिभक्ति सहित अत क्रियाके साथ की जाती है । तथा संन्यासकेप्रथम और अन्तिम दिनाको छेडकर श्रेयं दिनों में ऋष्यायकी स्थापना बृहत् श्रुतभक्तिपूर्वककी जाती है । तथा जो समाधिमरण करनेवाले क्षपककी सेवा करनेवाले साधु हैं और जिन्होंने वहाँ प्रथम दिना ऋष्यायकी स्थापना की है उन्हें उसी वासतिक्रम में सोना चाहिए जिसमें संन्यास किया गया है । यदि उन्होंने रात्रियो और वार्षायो अथ ऋषी क्रिया हो तो भी उन्हें वही सोना चाहिए । किन्तु जो बृहस्थ

परिग्रहक रूपाध्याय इहप नही कर सकते हैं उन्हें संन्यासकेप्रथम और अन्तिम किा श्रुतपं धीकी तरह सिध्दभक्ति श्रुत भक्ति और शान्ति भक्ति पूर्वाकही क्रिया करनी चाहिए ॥ ६१-६२ ॥

अने अष्टाह्निका पर्वा की क्रिया कहते हैं -

अषाढ, कार्तिक और फाल्गुनामासके शुक्ल पक्षकी अष्टमीसे लेकर पौर्णमासी पर्यन्त प्रतिक्रिया मध्याह्ने प्रातः कालके रूपाध्यायको इहप करके बाद सिध्दभक्ति, नन्देश्वर चैत्य भक्ति, पं धु स्मक्ति और शान्ति भक्तिकेसाथ अचार्य आदिसबको मिठकरक्रिया करनी चाहिए ॥ ६३ ॥

अने अभिषेककालकी क्रिया और मं गुरुगुरुक्रियाको कहते हैं -

सानन्देश्वरकृत चैत्या त्वाभिषेककालकारित तथा ।

मङ्गल गुरुद्वयमध्याह्निकालायो गुरुगुरुः ॥ ६४ ॥

सानन्देश्वरक्रिया । अभिषेककाल - जिनासापनादिसे काल ।

अतं -

अहिसे काला सिध्ददेदिपं धु स्मिति भतीहि ।

की रश्मं गत गुरुगुरुमङ्गलिककाला होइ ॥ [] ॥ ६४ ॥

अथ मं गुरुगुरुद्वयत्वाख्यानादिषिमाह -

ताना गृहत्सिध्दयोःस्तु त्वामङ्गल गुरुद्वये ।

प्रत्याख्यानं गृहत्सु शिषान्तिभक्ती प्रयुञ्जताम् ॥ ६५ ॥

प्रयुञ्जताम् । अत्र बहुवाक्यानिर्देशः सर्वोर्मिष्ठिका कार्यो अं दिविरिति बोधयति ॥ ६५ ॥

अथ वार्षायो इहपमोक्षपदिधुपदेशार्थं शतो कल्पमाह -

ततश्चतुर्दशीपूर्वार्धे सिध्दमुनिस्तुती ।

चतुर्दिक्षु परित्या त्वा श्चैत्य भक्ती ऽस्तुतिम् ॥ ६६ ॥

शान्ति भक्तिं च कुर्वाणैर्वाषायोऽस्तु गृह्णाम् ।

ऊर्ध्वं कृष्णं चतुर्दश्यां पञ्चात्रयं च मुच्यते ॥ ६७ ॥

पूर्वार्धे -प्रथमप्रहरेदेशे । परित्या -प्रदक्षिणया । अत्या -तद्यी । अर्था कतरुः । तद्यथा - यान्ति जिना चैत्यानीत्वादिशतो कं पठिता वृषभक्तिरायं गुरुस्तुतु चार्थ चैत्यभक्तिं कृष्णिकां पठेदिति पूर्वादिक् चैत्यात्कालका । एतं दक्षिणादिदिक्षु त्रयेऽपि, नद्यास्तुतु चेत्यै त्रै त्रै स्वायं गुरुस्तुतु प्रयोक्तव्यौ । गुरुस्तुति -पञ्चगुरु स्मक्तिम् ॥ ६६ ॥ पञ्चात्रयं - पश्चिमयामोदेशे ॥ ६७ ॥

ऊपर जो नन्दे श्वारक्रिया कही है वही क्रिया जिस दिन जिन्ना ऋषान्क महाभिषेकहो , उस दिन कसा चाहिए । अंतरकेकारु ज्ञाना है कि नन्दे श्वारचैत्य भक्ति केस्थानमें कारु चैत्य भक्ति की जाती है । तथा वार्षा यो के ग्रहप और त्या के समय भी यह अभिषेकवन्का ही मं ऋगो हर मध्याह्नकाहोती है ॥ ६४ ॥

अने मं ऋगो हर बृहत् प्रत्याख्यानकी विधि कहते हैं -

मं ऋगो हर क्रियामें बृहत् सिध्दभक्ति और बृहत् योनिभक्ति करके भक्त प्रत्याख्यानको ग्रहप कसा चाहिए और फिर बृहत् अघर्ष भक्ति और बृहत् शान्ति भक्ति कसी चाहिए । यह क्रिया अघर्षादि सङ्को भिठकर कसी चाहिए । इसी से प्रयुञ्जताम् ज्ञा बहुवाह्नाका प्रयो ऋक्रियाहै ॥ ६५ ॥

अने वार्षा यो के ग्रहप और त्या की विधि कहते हैं -

भक्त प्रत्याख्यान ग्रहप कसो केप श्चत् अषाढ शुक्ल तृतीयाक्षीकी रात्रिकेप्रथमपहसमें पूर्वा अदि चारों दिशाओंमें प्रवक्षिणा क्रमसे तृप्त्य चैत्य भक्ति चारवारपढकर सिध्दभक्ति , योनिभक्ति , पंचतुल्यभक्ति और शान्तिभक्ति करते हुए अघर्ष आदि साधुओंको वार्षा यो ग्रहप कसा चाहिए । और कार्तिक कृष्णा तृतीयाक्षीकी रात्रिकेपिछे पहसमें इसी विधिसे वार्षा योको छेडा चाहिए ॥ ६६-६७ ॥

विशेषार्थ - चारों दिशाओंमें प्रवक्षिणा क्रमसे चैत्यभक्ति कसोकी विधि इस प्रकार है । पूर्वादिशाको मुख करके शान्ति जिन्ना चैत्यानि ज्ञादि शतोक पढकर ऋषिभक्ता और अश्विनाथकी स्तुति पढकर अघर्षा सहित चैत्यभक्ति पढना चाहिये । ऐसा कसो -

अथ तच्छेषविधि शतोकद्वयेनाह -

मासं वासो ऽयदैकरु यो ऋक्षे च शुभे च ऽजेत् ।
 मार्गे स्त्रीते त्यजे चार्थवाशवपि न तद् उच्येत् ॥ ६८ ॥
 न ऋतुर्था तद्वानो कृष्णां शुक्लमे ऋषज्जमीम् ।
 यद्वान्ना ऋच्छेत् छेदे कथं चिच्छेदमा हरेत् ॥ ६९ ॥

वासः कर्तव्य इति शेषः । अथव ज्हे मन्तादिऋतुषु । शुभे - अषाढे । मार्गे - मार्गशीर्षमासे ॥ ६८ ॥ नानो - श्रावणः । तद्वानो - योः के ऋमने । न ऋच्छेत् - स्थानान्तरेना विहरेत् । तच्छेदे - यो गतिऋमे । कथं चिच्छेत् - दुर्निवायेपस रीक्षा । छेदं - प्रावशिष्टम् ॥ ६९ ॥

अथ वीरनिर्वापक्रियानिर्णयार्थमाह -

यो मन्ते ऋदये सिध्दनिर्वापु स्नानवयः ।
 प्रपुत्या वीरनिर्वापे कृत्यातो नित्कान्का ॥ ७० ॥

यो मन्ते - वार्षा यो निष्ठपने कृते सति । अतः क्रियानन्तस् ॥ ७० ॥

से पूर्वादिशाके दैत्यादयोः कीर्तना हो जाती है । फिर दक्षिण दिशामें संज्ञा और अभिन्वित्वादिनाकी स्तुतियाँ पढ़कर अष्टिका सहित दैत्यभक्ति पढ़ना चाहिये । इसी तरह पश्चिमदिशामें सुमतिदिना और पश्चिमदिशा तथा उत्तरदिशामें सुपाठा और कृष्णकृष्णान्केस्तान पढ़ना चाहिये । इस प्रकार अपने स्थान परस्थित रहकरही द्वात्रिंशदिशामें भद्रादिना कसा चाहिये । उा - उादिशाओं की ओर उठो की आवश्यकता नहीं है ॥ ६६-६७ ॥

अने दो शतकों केवल शेष विधि कहते हैं -

वर्षा यो नकेस्थान अथ हेमन्त अदि ऋतुओं में श्रमणोंको एक स्थान नगर अदिमें एक मास तक ही निवास कसा चाहिए । और मार्गशीर्ष महीना कीतने परवर्षा यो नकेस्थानको छोड़ देना चाहिए । कितना ही प्रयोजन होनेपर भी वर्षा यो नकेस्थानमें श्राप कृष्ण ऋतु थी तक आश्रय पहुँचना चाहिए । इस तिथिको नहीं छोड़ना चाहिए । तथा कितना ही प्रयोजन होनेपर भी कार्तिक शुक्ल पंचमी तक वर्षा यो नकेस्थानसे अथ स्थानको नहीं जाना चाहिए । यदिकिसी दुर्निवार असर्ग अदिके कारण वर्षा यो नके उक्त प्रयोजनमें अतिक्रम कसा पडेतो साधु संघको प्रायश्चित्त लेना चाहिए ॥ ६८-६९ ॥

विशेषार्थ - शो. दशाश्रुत स्कन्ध निर्बुद्धिमें कहा है कि वर्षावास अषाढकी पूर्णिमासे प्रारम्भ होकर मार्गशीर्ष मासकी दसमी तिथिको पूर्ण होता है । यदि इसके बाद भी वर्षा होती हो या मार्गमें अत्यधिक कीचड़ हो तो साधु इसका ठकेबाद भी उसी स्थान पर रह सकते हैं ॥ ६८-६९ ॥

वीरसहान्केनिर्माणकत्यापकेका कीर्तनाकी क्रियाको बताते हैं -

कार्तिककृष्ण ऋतु दक्षी कीर्तिके अन्तिम पहलमें वर्षा यो नका निष्ठापना कसकेबाद सूर्यका उदय होनेपर सहान् महशीर रूमीकी निर्माण क्रियामें सिद्धभक्ति, निर्माणभक्ति, पंहु स्मृति और शान्तिभक्ति कसी चाहिए । उसकेपश्चात् नित्यन्वित कसा चाहिए ॥ ७० ॥

अथ कत्यापकपञ्चक्रियानि श्रयार्थमाह -

साद्यतसिद्धशान्तिस्तुतिदिना नृणोः स्तुत्यादृत्तम् ।

निष्क्रमणे यो यन्तं विदिश्रुता द्विषिः शिवात्तमपि ॥ ७१ ॥

साद्यतेत्यादि - क्रियाविशेषपदिम् । दिना नृणोः - तीर्थकृतानां भवत्स्ये जन्मनि च । पुनर्जन्मकत्यापक्रियाप्रतिपादनां पञ्चानामप्येकं संप्रत्ययार्थम् । यो यन्तं - सिद्धशान्तिरिक्तयोः शान्तिभक्तयः कार्या इत्यर्थः । विदिश्रुता - विदिश्रुता कत्यापे । श्रुता द्विषिः - सिद्धश्रुत शान्तिरिक्तयोः निर्माणशान्तिभक्तयः कार्या इत्यर्थः ॥ ७१ ॥

अथ पञ्चदशप्राप्त ऋषयानां कार्या निषेधिकायां च क्रियाविशेषनिर्णयमायां बुभेनादिषत्ते -

वापुषि ऋषेःस्तौतु ऋषीन् निषेधिकायां च सिद्धशान्तिवन्तः ।

सिद्धवन्तः श्रुतावेन् वृत्तावेन्तुतद्यतिनाः ॥ ७२ ॥

द्विषुः श्रुत्वावेन् गपिनोऽततु रूः श्रुतादिकानपि तान् ।

समयदिवेऽपि यमार्थे स्तनुविरुशो द्व्यमुखानपि द्विषुः ॥ ७३ ॥

ऋषेः - सामान्यसाधो र्थान्मृतस्य । ऋषीन् - योगिनः । सिध्दज्ञानत्वन्तः - सिध्दभक्ति शान्ति -
भक्त्योर्मध्ये योगिभक्ति कुर्यादित्यर्थः । सिध्दन्तिनाःश्रुतावेन् । अत्रोत्तरं दृष्ट्वापुषीत्याद्युदात्तनीरम् ।
ततोऽमर्थः । कथं सैध्वन्तस्य ऋषेः काये निषेधिक्रयां च सिध्दज्ञानत्वोर्मध्ये श्रुतमृषीश्च स्तुयात् ।
सिध्दश्रुत - योगिशान्ति भवतीः कुर्यादित्यर्थः । तृतावेन् सिध्दग्निरियोगिशान्तिभवतीर्थादथादित्यर्थः ॥
७२ ॥ द्विषुः - सिध्दन्तोत्तरं भूः । श्रुतृतावेन् सिध्दग्निरियोगिशान्ति भवतीः प्रयुज्जीतेत्यर्थः ।
अतः तपीन् अतः तपिनाऽर्थात् स्तुत्यतया तान् । अतः तपीन् ऋषीन् । सिध्दश्रुतयो या चर्च शान्ति भवतीः
कुर्यादित्यर्थः । समवधिदः - सिध्दन्त इत्या चर्चस्य च ऋषेः । अपि यमावेन् - चारिन्न वेनापि
अतः तपि ऋषीन् स्तुयात् । सिध्दग्निरियोगि या चर्च शान्ति भवती र्थोदित्यर्थः । तनुकिरुषः - कायक लेशिनाः
अ चर्चस्य च ऋषेः । द्वमु खानापि सिध्दश्रुत ग्निरियोगि या चर्च शान्ति भवती र्चयेदित्यर्थः । द्विषुः -
सैध्वन्तस्य कायक लेशिनाश्चा - चर्चस्य ऋषेः । अतं च -

काये निषेधिक्रयां च मुनेः सिध्दवर्षि शान्तिभिः ।

उत्तरं तपिनाः सिध्दतृत्तर्षि शान्तिभिः क्रियाः ॥

पं एकत्यापककेवियों में की जाने यो य क्रिया बताते हैं -

तीर्थ कर्षे के गर्भकत्यापक और जन्मकत्यापकके समय श्रमणों और श्राद्धकों को सिध्दभक्ति ,
चारिभक्ति और शान्ति भक्ति पूर्वाक्रिया करनी चाहिए । तपकत्यापकमें सिध्दभक्ति , चारिभक्ति ,
योगिभक्ति और शान्ति भक्ति करनी चाहिए । ज्ञानकत्यापकमें सिध्दभक्ति , श्रुत भक्ति , चारिभक्ति ,
योगिभक्ति और शान्ति भक्ति करनी चाहिए । तथा निर्माण कत्यापकमें और निर्माण के ढकी ढान्कामें
सिध्दभक्ति , श्रुत भक्ति , चारिभक्ति , योगिभक्ति , निर्माण भक्ति और शान्ति भक्ति करनी चाहिए । ज्ञा
भक्तिबों केसाथ उस उस कत्यापक सम्बन्धी क्रिया करनी चाहिए ॥ ७१ ॥

मरणको प्राप्त ऋषि अदिके शरीर तथा निषेधिका (समाधिस्थान) के विषयमें की जानेवाली
क्रियाओं को दो पञ्चों से कहते हैं -

सामान्य साधुका मरण होनेपर उसके शरीर तथा समाधिभूमिकी ढान्का सिध्दभक्ति , योगिभक्ति
और शान्ति भक्तिको क्रम से पढकरकी जाती है । यदिसिध्दन्तोत्ता सामान्य

१. योगिशा - ३ . कु . ३ . ।

सैध्वन्तस्य मुनेः सिध्दश्रुतर्षि शान्ति भक्तिभिः ।

उत्तरं तपिनाः सिध्दश्रुतृत्तर्षि शान्तिभिः ॥

सूत्रे निषेधिकाकाये सिध्दवर्षिसूत्रिशान्तिभिः ।

शरीर लेशिनाः सिध्दतृत्तर्षि तपि शान्तिभिः ॥

सैध्वन्ता चर्चस्य सिध्दश्रुतर्षि र्णु स्थान्तवः ।

अथ यो ते सिध्दश्रुतृत्तर्षि तपि शान्तवः ॥ ७३ ॥

अथ स्थिररूपं ज्ञानं प्रतिष्ठितं तत्र क्रियादिषु तत्र चतुर्थं स्नानक्रियादिषु चोपदिशति -

स्यात्सिद्धशान्तिभक्तिः स्थिररूपं ज्ञानं प्रतिष्ठितं ।

अभिषेकं च तत्र चतुर्थं स्नानं तु पादिकी लोपरे ॥ ७४ ॥

अभिषेकं च तत्र - सिद्धचैत्यपञ्चगुस्थान्तिभक्तिरूपं । पादिकी - सिद्धचारिभक्ती
बृहदलो ज्ञानं शान्तिभक्तिश्चेत्येषा । स्नाध्यायाग्राहिपां पुनर्गृहिपां सैवात्मेन्द्रा रहिता । अग्रे -
अयस्मिन् स्थिरज्ञानप्रतिष्ठा - चतुर्थं स्नानं इत्यर्थः । उक्तं च -

तत्र चतुर्थप्रतिष्ठयां सिद्धशान्तिस्तुतिर्द्वितीया ।

तत्र च तत्र अभिषेकस्य तु चतुर्थं स्नानं मत्तः पुनः ॥

सिद्धगृह्णति कुर्याद्बृहदलो ज्ञानं तथा ।

शान्तिभक्तिर्ज्ञानं तत्र प्रतिष्ठितं स्थिरस्य तु ॥ ७४ ॥

साधु का मरण हो तो उसके शरीर और निषद्यभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, योगिभक्ति
और शान्तिभक्ति पढकर की जाती है । यदि उक्त स्वरूपों को धारण कसोवावे साधु का मरण हो तो उसके
शरीर और शान्तिभक्ति पढकर की जाती है । यदि मसोवावे साधु सिद्धवन्दोत्ता होनेकेसाथ उक्त
गुणों को भी पाकहो तो उसके शरीर और निषद्यभूमिकी वन्दना है । यदि अचार्य का मरण हो जावे तो
उाके शरीरकी और निषद्यभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति, योगिभक्ति, अचार्यभक्ति और शान्तिभक्ति
पढकर करनी चाहिए । यदि सिद्धवन्दोत्ता अचार्यका मरण हो तो उाके और निषद्यभूमिकी वन्दना
क्रमसे सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, योगिभक्ति अचार्यभक्ति और शान्तिभक्ति पढकर करनी चाहिए । किन्तु
ऐसे ऋषिका मरण हो जो अचार्य होनेकेसाथ कायवक्षेप तपके धारि हों तो उाके शरीर और निषद्य
भूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति, चारिभक्ति, योगिभक्ति, अचार्यभक्ति और शान्तिभक्ति पूर्वाककरनी
चाहिए । यदि मरणको प्राप्त ऋषि अचार्य होनेकेसाथ सिद्धवन्दोत्ता और कायवक्षेप तपके धारि हों तो
उाके शरीर और निषद्यभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारिभक्ति, योगिभक्ति,
अचार्यभक्ति और शान्तिभक्ति पूर्वाककरनी चाहिए ॥ ७२-७३ ॥

स्थिरज्ञानं और चतुर्थं ज्ञानं की प्रतिष्ठितके समयकी विधि तथा चतुर्थं ज्ञानं के चतुर्थं विधि
किये जानेवाले अभिषेकके समयकी क्रियाविधि कहते हैं -

स्थिरप्रतिष्ठा की प्रतिष्ठित या चतुर्थं ज्ञानं की प्रतिष्ठितमें सिद्धभक्ति और शान्तिभक्ति पढकर
वन्दना करनी चाहिए । किन्तु चतुर्थं ज्ञानं की प्रतिष्ठितके चतुर्थं विधि अभिषेकके समय अभिषेकवन्दना
की जाती है अर्थात् सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पञ्चगुस्थान्तिभक्ति और

अथाचार्यपदप्रतिष्ठितपञ्चक्रियाविधिमाह ---

सिद्ध चर्य स्तुती कृत्वा सु त मे पुर्तानु ह्या ।

तात्वा चर्य पदं शान्तिं स्तु वात्साधुः स्फु र्दुपः ॥७५॥

अ चर्य पदम् । अद्य प्रभुति क्वाता र्हस्य शास्त्राध्ययन विधावनादिकमा चर्य कथमा चर्यभिति
रप समक्षं भाषमापेन नु स्मा समर्प्य मापपि च्छहप ठकपम् । अतं च चारिः सारे --- नु स्मामनु ज्ञयां दि इ
गान्दौर य संपन्नो दिनीतो धर्म शी र्ः स्थिरश्च नू द्वाः चर्य पद या यो यः साधु र्नु स्मामके सिद्ध चर्य भक्तिं
कृत्वा चर्य पदी तृहीत्वा शान्ति भक्तिं कुर्यादिति ॥७५॥

अथा चर्य स्य षट्चिञ्चतं नु पान् दिषति ---

अटवा न्न र्त्वा द्यस्तपं सि द्व दशस्थितेः ।

कत्या दशा च्छा श्य कानि षट् षट् चिञ्चदु पा रपेः ॥७६॥

शान्ति भक्ति पूर्वाकटावत्वा की जाती है । किन्तु स्थिर रज्जि प्रतिमाकी प्रतिष्ठ के चतुर्थ विा होनेवा ले
अभिषेकके समय पक्षिकी क्रिया की जाती है अर्थात् सिद्धभक्ति, चारिः भक्ति, बृहत् अतो ह्ना और
शान्ति भक्ति की जाती है । और र्त्वा धारको ग्रहप ना कसोवा ले श्रादाक बृहत् अतो ह्नाको छे उकर
शेष भक्ति पदकरक्रिया करते हैं ॥७४॥

अ ने अ चर्य पदप रप्रतिष्ठित कसो की विधि कहते हैं ---

चिञ्चके छत्तिस नु प सं च्छेचित्तमें इमत्कार पौव करते हैं उस साधुको नु स्की अनुमतिसे शुभ
मुहुर्तमे सिद्धभक्ति और अ चर्य भक्ति करके अ चर्य पद ग्रहप कसा चाहिएतक शान्ति भक्ति कसी
चाहिए ॥७५॥

विशेषार्थ --- चारिः सासों भी कहा है कि नु स्की अज्ञ होनेपर ज्ञान और चौर यसे सम्पन्न,
दिनी, धर्म शी र् और स्थिरमति जो साधु अ चर्य पदकेयो य होता है वाह नु स्केसन्मुख सिद्धभक्ति और
अ चर्य भक्ति पूर्वाक अ चर्य पदीको ग्रहप करता है, तक शान्ति भक्ति करता है । अ चर्य पदप वनासे
अ चर्य यह है कि नु रुसं च्छेसमक्ष यह कहकरकि अ र्से अप प्रायश्चित्त शास्त्रके अध्ययन, विधावना
अदि अ चर्यकार्य को करें पिच्छिका समर्पित करते हैं । उसका ग्रहप ही अ चर्य पदका ग्रहप है ॥७५॥

अ ने अ चर्यके छत्तिस नु पों को कहते हैं -

अ चरात्वा अदि अ ठ, बाहू तप, दस स्थितिकत्य और छह अवाञ्छक ये छत्तिस नु प अ चर्यके
होते हु एभी ने वें में एकरूपता नाही हैं । श्रोताम्बर पस्प रके अनुसार - पाँ च्छे इन्द्रियों को जो वाञ्छमें
कस्ता है, नौ बाञ्छे विषुद्ध ब्रह्मर्य का पा रता है, पाँ च्छे महद्यतों से युक्त होता है, पाँ च्छे अ चर्य को
पा र्नामें समर्थ है, पाँ च्छे समिति और तीन नु प्तिक पातक है,

१. घं चिद्वि संवत्सो तह न्दविह्वा ह्ये रनुत्तिधरे ।

पं च्छेद्वार कुत्तो पं च्छेहा चसा ठप समत्यो ॥

पं च्छेमि इति नुत्तो च्छे अहारस नु पेहि संजुत्तो ॥

स्थिते :निगुठसौषडास्य । कत्या :-दिशेषा : ॥ ७६ ॥

कारप्रकारकी कषायों से मुक्त है इस तरह छतीस गुपों से युक्त गुरुहोता है । ये ५+९+५+५+५+३+४ = ३६ गुप होते हैं । दिग्मरपरस्परमें भी एकरूपता नहीं है । विभिन्न ग्रन्थकारोंने विभिन्न प्रकारसे छतीस गुप गिनाये हैं - अक्षरात् आदि आठ गुप, दस स्थितिकत्व, बाह्य तप, अवाश्यक ८+१०+१२+६+ = ३६ ये छतीस गुप होते हैं । पं. अश्वरक्षीने इसीके अनुसार उग्रर छतीस गुप गिनाये हैं । किन्तु ऋषी अश्वनाकी अपनी टीकमें पं. अश्वरक्षीने उक्त गाथाके सम्बन्धमें लिखा है - ऋ. अ. के. अनुसार छतीस गुप इस प्रकार हैं - अठझाना मर, अठदर्शना मर, बाह्य प्रकाशक तप, पाँचसमितियाँ, तीन गुप्तियाँ ये ऋषी अश्वनाकी संस्कृत टीकके अनुसार छतीस गुप हैं । प्राकृत टीकमें अर्द्धसूत्र गुप और अक्षरात् आदि अठथे छतीस गुप हैं । अथवा दस अलोचनाके गुप, दस प्रायश्चित्तके गुप, दस स्थितिकत्व और छह जीतगुप ये छतीस गुप हैं । ऐसी स्थितिमें ऋषी अश्वनामें सुनी गयी यह गाथा प्रक्षिप्त ही प्रतीत होती है । उ. ऋषी अश्वना परदि ज्योदया टीकके रचयिता असहित सूत्रों इस गाथा परटीक नहीं की है । अतः यह गाथा किसीने छतीस गुप गिनानेके लिए उद्धृत की है औरवाह मूर्ध्में सम्मिश्रित हो गयी है । इसमें जो दस स्थितिकत्वों और छह जीतगुपों को अक्षरके गुपों में गिनाया है वह विचरणीय प्रतीत होता है ।

बोधपाहु छतीस गाथा २ की संस्कृत टीकमें अक्षरके छतीस गुप इस प्रकार कहे हैं - अक्षरान्, श्रुताधारि, प्रायश्चित्तवता, गुप वेषका प्रवृत्ता किन्तु वेषको प्रकटना कसोवाला, अस्मिन्नी, साधुओंको सन्तोष देनेवाले निर्वापक, दिग्मरवेषी, अङ्कित भोजी अन्नयासनी, अन्नकृत्, क्रियायुक्त, दातृान्, ज्योत्सव गुपी, प्रतिग्रह करनेवाला, षट्मासयोगी द्विषद्ब्रह्माल, बाह्यतप, छह अवाश्यक, ये छतीस गुप अक्षरके हैं । इस तरह अक्षरके छतीस गुपों में विविध मत मिलते हैं ॥ ७६ ॥

१. अथारामादीना अष्टुपा दसदिशो य उदिकप्पो ।

वासत्वा छवासर छतीसुपा मुपेक्वा ॥ उ --- ऋ. अ. ग. ५२६ ।

२. षट्त्रिंशद्गुपा यथा - अष्टौ ज्ञानामर, अष्टौ दर्शनामर, तपो द्वदशदिशं पञ्चसमितवस्तिस्त्रे

गुप्तवत्रेति संस्कृतटीकयाम् । प्राकृतटीकयां तु अष्टादिशति मूतगुपाः अक्षरात्तद्व्यत्राष्टौ इति

षट्त्रिंशत् । यदिवा दस अलोचना गुपाः, दश प्रायश्चित्तगुपाः दश स्थितिकत्वाः, षड् जीतगुपा इति

षट्त्रिंशत् । एतं सति सूत्रेणु रमापेयं गाथा प्रक्षिप्तैवा रक्ष्यते । उ

३. अथश्रुताधारः प्रायश्चित्तास्नादिदः ।

अथापायकथी वेषा मषकोऽस्त्राकोऽपि च ॥

सन्तोषकरि साधूनां निर्वापक इमे षट् च ।

दिग्द्वयं रोष्वङ्गुक्लिङ्गो ङी च य्यास्नीति ः ॥

अस्य ङुक्क्रियायुक्तो दात्वान् ज्येष्ठस्य दुः ।

प्रतिव्रती ः षण्मासयो गी तद्विनिषेकः ।

क्लिङ्गत्तपास्तथा षट् ष्मासकानि तु पा तुरेः ।

अथा च दात्वादिना रूपो द्वेषार्थं माह -

अद्यै सूस्त्रिधासि ष्माहासि प्रकाशकः ।

अयापायदित्पीडे अस्त्रिणी सुखाहः ॥ ७७ ॥

अथा च स्य वदित् षपनिर्णयार्थं श्लोके कथ्यमाह -

पञ्चमस्य सूक्तदास्यै स्यावधारि श्रुतोद्धुरः ।

ष्माहास्यदुस्तवन् परिघसि प्रकाशकः ॥ ७८ ॥

तुपवेषप्रवक्ता ष्यापायदित् वेष्मासकः ।

उत्पीठको रहो अत्ता अग्नीवी निर्माणकोऽटमः ॥ ७९ ॥

पञ्चमस्य सूक्त - पञ्चमनां ज्ञानाद्यद्यस्य पामास्त्रिधा अद्यार्यिता अदेष्टा ः । अतं ः ----

अद्यैरपञ्चदशैः ष्रुति ः दास्यति यो निरति षस्म ।

अदिष्टति सवद्यैरः ष्रुति स अद्यैरान् सूत्रिः ॥ ८० ॥

श्रुतोद्धुरः - अन्वयसामान्यश्रुतज्ञानसम्पन्नः । अतं च ----

ष्मादस्य द्बुदधानां पूर्वापां वेद्विा मतिस्मुद्रः ।

कत्व ष्माहास्यरः स ष्मात्वाधारान्नाम ॥ []

अने वे श्लोकों केवच ज्ञा अद्यै अदिका ष्मा रूप कहते हैं --

जो पाँच ज्ञानादि अद्यैका ष्मा अक्षर करता है दूधरै से अक्षर करता है और उक्त अदेष्ट देता है उसे अद्यै या अद्यैवान् कहते हैं । जो असाधारण श्रुतज्ञानसे सम्पन्न हो उसे अद्यै कहते हैं । जो ष्माहास्यदु हो, अर्थात् प्रायश्चित्तका ज्ञाता हो, जिसने बहुत बार प्रायश्चित्त देते हुए देखा हो और ष्मा भी उसका प्रयोग किया हो, उसे ष्माहास्य कहते हैं । जो षपककेसेवा करता है उसे प्रकाशक कहते हैं । जो अतो ह्नाकेवि ए उद्यै षपककेतु पाँच और दोषों का प्रकाशक हो उसे अयापायदिक कहते हैं । जो अत अदिके तूठ अतिद्यैको बाहर निकलने में समर्थ है उसे उत्पीठक कहते हैं । जो एकान्तमें प्रकाशित वेषको प्रकट नहीं करता उसे अस्त्रिणी कहते हैं । जो तूख-

सुनना चाहिए । किन्तु छेद सूत्र अर्थात् प्रायश्चित्त शारङ्गका अर्थ सङ्केतिए जानने योग्य नहीं है । उद्योताम्बरीय सूत्रों में व्रतहारके उपायों का प्रकाश कथना है । व्रतहार सूत्रों में विस्तारसे कथना है । मुमुक्षुकी प्रवृत्ति -निवृत्तिको व्रतहार कहते हैं । अतएव केवलज्ञान, मनःपर्यय, यद्यपि नैवादिपूर्वाभी श्रुत हैं, किन्तु वे केवलज्ञानकी तरु अतीन्द्रिय पदार्थों के निषेधमें विशिष्ट ज्ञान करते हैं । इसलिए उन्हें अतममें लिया है । किन्तु पं. अशाधरजीने अपनी टीका में शारङ्ग अंगों में प्रतिपादित प्रायश्चित्तको अतम और चौदह

१. पं ऋंहं व्रतहारं जो जप इत च वे सद्यित्थारं ।
बहुसा यद्वि कयपट् ठापो व्रतहारं होइ ॥
अतम सुद आपा धारणा य जी देहि हों तिव्र व्रतहार ।
एदेसिं सद्यित्थार प रूपा सु तपिद्वि क ॥ ---- १ . अ च . ४४८- ४९ ता . ।
२. सव्योप वि विष्णवपं सो दवं सद्यित्थे पुरिसे प ।
छेदसु दस्य हु अथो प होदि सव्योप पादव्यो ॥
३. घं ऋहे व्रतहारेपण्णते , तं जहा - अतमे , सु ए ।
अपा , धारणा , जी एड स्थानां १ ५ । २ । ४२९ सू . ।

गुपवेषापां प्रथकः क्षपकस्य विशेषमाकुतो व्रिषोः ।

अतु जे र मोचयितो वेषविशेषं प्रकाशयति ॥ उ []

वेषाशकः -- व्रता स्त्री वरस्यान्तर्दृश्यस्य बहिर्निष्क्रमकः । अतं च ---

ओ ऋणी ते ऋणी वामी च प्रथितकीर्ति रचार्यः ।

हरिश्चिद्विष्णुसाचे ऋति समुत्पी ऋकोनाम ॥ उ []

सो अंता -- गोप्यवेषस्य स्यात्मेचित्तस्याप्रकाशकः अतं च ----

अ मोक्षिताः कर्कशयस्यायः पीततोयस्य चयाः ।

नापश्चिन्तित् कथमपि स ऋत्वपश्चिन्ताः सूरिः ॥ उ

निर्माणकः -- कुवदिदुखोपशमकः । यथाह ---

घमभीरुस्ति घमघु रमति ह्यं श्रुताः सुखाम् ।

निर्माणकः कथां कुर्यात् स्मृत्यानाम्नाकरणम् ॥ [] ॥ ७९ ॥

पूर्वों में प्रतिपादित प्रायश्चित्तको श्रुत कहा है । कोई अ चर्य समाधि देनेना है किन्तु पैरों में दूधकी शक्ति नहीं है, वो देशान्तरमें स्थित किसी प्रायश्चित्तको अथ अ चर्यके पास आने तु त्व ज्येष्ठशिवको भेजकर और उसके मुखसे अपने दोषों की अतोद्घा कचकर जाके वर निर्दिष्ट प्रायश्चित्तको यदि स्वीकार करते हैं तो आज्ञा है । वही अज्ञकत अ चर्य वेष तानेपरवाही रहते हुए पूर्वमें आधास्ति प्रायश्चित्त यदि करते हैं वह धारणा है । बेहतरपु र्णों केरूपको देखकर जो प्रायश्चित्त कहा जाता है वह जीत है । शो .टी काकारें के अनुसार द्रव, क्षेप, काठ, शपा और वक्तिके वेषके अनुसार संहन्ना, सहनशीलता अदिमें कमी देखते हुए जो प्रायश्चित्त दिया जाय वह जीत है । झा पाँच प्रकरके प्रायश्चित्तमें से यदि अममि दाना है तो अममके अनुसारही प्रायश्चित्त देना चाहिए । अमम न हो तो श्रुतके अनुसार प्रायश्चित्त देना चाहिए । इस तरह क्रमिकही प्रायश्चित्त देनेका विधान है । अ चर्यको इस वृद्धास्ति ज्ञाता होना चाहिए । तथा अ चर्यको समाधि देनेवालेकी सेवामें तत्परहोना चाहिए । जब वह बाहर जाये यथा बाहसे अदर अये तो उसको हस्तधारम्ब देना चाहिए, उसकी वास्तिका, संशय, उपकरणकी सफाई करनी चाहिए । मरुत्यागमें उसके लिए श्वेतपानकी वृद्धास्थामें सहायना रहना चाहिए । ये सब कार्य बडे अदर - शक्तिसे करना चाहिए (११. अ . ४५५-५७) । क्षपकको अ चर्यके सामने अपने दोषों की अतोद्घा करनी चाहिए । किन्तु क्षपक अपने दोषोंको कहते हुए सकुचता है । उसे शय है कि मेरे वेष प्रकट होनेपर सब मेरा निरदर करेंगे या मेरी निन्द करेंगे । ऐसे समयमें अयापावदिद अ चर्य बडे कुशलतासे समझ -बुझकर उसके गुण - दोषोंको प्रकट करते हैं । (११. अ . ४५९- ४७३ गा .) । कोई-कोई क्षपक अतोद्घाके गुण - दोषोंको जानते हुए भी अपने दोषोंको प्रकट करनेके लिए तैयार नहीं होता । तब उत्पीठक गुणके धारि अ चर्य समझ -बुझकर उसका दोषोंको बाहर निकालते हैं । जैसे , माता बच्चेकी हितकारिणी होती है वह बच्चेके सेनेपर भी उसका मुख खा लेकर दगापि मती है वैसे ही अ चर्य भी दोषोंको निकालते हैं - (१. अ . ४७४- ४८५ गा .) । जैसे तपा लोहा धारें ओसे पानीको सोख लेता है वह पानीको बाहर नहीं निकालता । उसी तरह जो अ चर्य क्षपकके दोषोंको सुनकर पन्न जाते हैं , किसी

१. सस्थाया : मु . १ . कु . ३ . ।

अथ स्थिति कल्प दशकं गीतिद्वयेना निर्दिशति ----

अत्रे त्वयौ द्वे शि कश्च यथा वसु ऋकी वपि ष्वे ज्ञा : ।

कृति कर्मदातासे पपयो यदां ज्येष्ठता प्रतिव्रज पम् ॥

मासैक पाशिता स्थिति कल्पो यो ऋ वार्षिको दशमः ।

तन्निष्ठं पृथु कीर्ति : क्षपकं निर्वापको धिशोषयति ॥ ८०-८१ ॥

अत्रे त्वयं -- वास्त्रद्विरिग्रहा म्नी न मदासां वता । तच्च सं वम बुध्वेन्द्रिय ऊय - कषाया म्नाध्याना - र्णाध्यायनिर्दिष्टाता - निर्दिष्टता - वीतरा ऋषता - शरीरनादर - रूपाशदा - वेतोधिबुद्धि - प्राकट्य - निर्दिष्टता - सर्वा म्नीश्र - ध्वत्वा - प्रका म्नाद्वेष्टनाद्विरिकर्मवा र्णाधिशूषामू छ - ताकातीर्थ कर म्निस्तदानीं गूढ -

दृष्टीर्षता चरिभित - गुणगामोप - तम्भात् स्थितिकत्वात्नोपकृष्टम् । एतच्च श्रीद्विज्या चर्य विरचित -
मूलचर्यनाटीकायां सूत्रे विस्तृतः समर्थितं कृत्वा चरिभितना प्रपञ्च्यते इत्यर्थे विख्यातात् । अत एव
श्रीपञ्चान्वितादेषु सन्ने कृतानुपपन्नं दिङ्मात्र -मिदमधिष्ठे ---

मनो क्षात्नातः कुतः कृतं जलं चर्यभितः सं चर्यो
नाष्टे च सकृत्तन्त्रिताथ महातामप्यन्वतः प्रार्थनाम् ।
कौपीनेऽपि ह्ये परैश्च इति क्रोधः समुत्पद्यते
तन्निवृत्तं बुद्धिश्च ह्यच्छ्रमात्तां वासं ककुम्भण्डम् ॥ [पञ्च.पञ्च., १।४१]

दृष्टसे नहीं कहते वो अस्मिन्नापी कहताते हैं । यदि अ चर्य रूपं मनो साधुओं केवेषों को प्रकट कर
उहें दूषित करेंगे तो लोकताकी निन्दा ही करेंगे (१। ४९५ पर्यंत) । यदि अपककी परिश्रमा में कृष्टि
हो तो उसको कष्ट होता है, वाह क्रोध भी होता है किन्तु निर्माणक गुणकेवासी अ चर्य मृदुवापी सुन्दर
हितोपदेश से उसे प्रसन्न ही रखनेकी चेष्टा करते हैं (१। ४९६- ५२०) इस प्रकारये अठगुण अ चर्य के
होते हैं ॥ ७८-७९ ॥

अने वे पञ्चों से दस स्थितिकत्वाओं को कहते हैं --

१. अने क्वच अर्थात् वासु अदिपरिग्रहका अभावात्तानामता । २. श्रमणों केउद्देश से बनाये गये
भोजन अदिका त्याग । ३. वासतिको बनानेवाले या उसकी मस्मत् अदि करनेवाले या वहाँके
व्याख्यापकको शय्याधर कहते हैं । उसके भोजन अदिको ग्रहण न करना । ४. राजकेसका भोजन
ग्रहण न करना । ५. छह अवाशकों का पाठना । ६. व्रतों केअनुपपत्ती योयता । ७. ज्येष्ठता । ८.
प्रतिब्रमण । ९. एक मास तकही एक नगरीं वास । १०. वार्षिकेन्द्रारमहीनोमें एक ही स्थान परवास ।
ये दस स्थितिकत्व हैं ॥ ८० - ८१ ॥

विशेषार्थ --- अ चर्य के छत्तीस गुणों में दस स्थितिकत्व बतलाये हैं उही का यह कथना है ।
चर्याती अचर्यनामें अ चर्यकेअचर्यात्ता गुणका प्रकारान्तसे कथना करते हु एका दस कत्वाओं का कथना
किया है । कहा है जो दस स्थितिकत्वाओं में स्थित है वाह अ चर्य अ चर्यात्ता गुणका धारक है और अठ
प्रवाहना माताओं में संभ्रम है । इतोत्तर परस्परके अभिक साहित्यमें इन स्थितिकत्वाओं का बहुत
विस्तारसे वर्णनमिलता है । उांमे इनका अ चर्यकेअचर्यात्तासे सम्बन्ध नहीं है । ये तो सर्वसाधारण
हैं, शास्त्रोक्त साधु समाचरको कत्व कहते हैं और उसमें स्थितिको कत्वस्थिति कहते हैं । ये

१. घटसादिहृदिदिकप्ये वा ह्योज्जो जो सुद्विदे सयावरिओ ।
अयारां सु एसो फारपमावसु अस्तो ॥----- १. अ., ४२० गा. ।

तथैवा श्री सो मदे अपिञ्जै स्यादादि -

दिकरेदिदुषां वेषो नादिकरनुवार्त्तने ।

तन्ना मत्तो निरुर्गो त्वे कोनाम द्वेषकत्माः ॥

नौष्टिकञ्च यमहि सा ऋ कुतः सं यमिनां ऋत् ।

ते स ऋ खय वीहन्ते वात्कताङ्गिणाससाम् ॥ [सोम. उपा. श्लो. १३१-१३२]

अँ द्वेषिकपिण्डे ज्जा - श्रमपमुद्दिश्य कृतस्य भवतावेर्का ऋनाम् । श्रय्यावरपिण्डे ज्जा - वासते :
का रकः सं स्का रको ऽङ्गा रूति सम्पादकश्चेति ऋयः शय्यावरस्य वेङ्गो चन्ते । तोषामयं तत अगतो वा
श्रय्यावर -

कत्वस्थिति दस हैं । ज्जामेंसे चारकत्व तो स्थित हैं और छह अस्थित हैं । १. श्रय्यावरपिण्डका त्याग ,
२. व्रत , ३. ज्येष्ठ और कृत्तिकर्म ये चार आस्थित हैं । सभी तीर्थ करने केसमयकेसभी साधु ज्जा चरें का
पा र्ना आश्रय करते हैं । शेष छह कत्वा अस्थित हैं । अर्थात् प्रथम और अन्तिम तीर्थ करने को छे उकर
शेष ऋइस तीर्थ करने केसाधु तथा द्विद्वेकेसाधु इहें पारुते भी हैं औरनाही भी पारुते । इस तरह
श्रोताम्बरपस्पृशमें ज्जा दस कत्वों का सम्बन्ध अचर्य केअचरात्ताकेसाथ नाही है ये तो सभी साधुओं के
द्विये करणीय हैं ।

अब प्रत्येक कत्वका र्शाश्रय कहते हैं --- अद्वेढकेरुकाको अद्वेढक्य कहते हैं । वेढ कहते हैं
वास्त्रको , वास्त्रादिपरिग्रहका अमहा या नमताका नाम अद्वेढक्य है । प्रत्येक साधुको नाम ही रूना
चाहिए । ऋहाती अचधना, गा . ४२१ की संस्कृत टीकामें अग्ररिक्त सुसिो इसका समर्थन किया है और
श्रोताम्बरिय श्रास्त्रों केअधासे ही उाकी मान्यताका धिरेष दिखताया है । वर्यों की श्रोताम्बरपस्पृशके
भाष्यकरें औरटीकाकरेंने अद्वेढका अर्थ अत्यद्वेढ या अत्यमृत्यका वेढ किया हे । और इस तरहसे
नमताको समाप्त ही करदिया है । किन्तु अद्वेढतामें अोकुप हैं । वास्त्रमें पसीनासे जन्तु पैव हो जाते
हैं और उस केधोनेसे उसकी मृत्यु हो जाती है । अतः वास्त्रकेत्यागसे संयममें बुद्धिहोती है । ऋंरें
अद्विका भय नहोनेसे कषायटती है । वास्त्र रखनेसे उसकेफट जानेपरनावा वास्त्र माँ र्ना होता है या
उसे सीनेकेति ए सुई माँ री होती है और इससे स्वाध्याय और ध्यानमें बाधा अती है । वास्त्र अदि
परिग्रहका मूत अतरंग परिग्रह है । वास्त्र त्याग देनेसे अम्यन्तरपरिग्रहका भी त्याग होता है । तथा अच्छे
और बुरेवास्त्रोंके त्यागसे सा ऋष भी अम्यन्तरपरिग्रहका भी त्याग होता है । वास्त्रकेअमहामें हटा , धूप ,
शीत अद्विके सहना कसोसे शरीरमें अदरभानही रूता । देशानतस्में जनेकेति एकिसी सहायककी
अमेधान रूनेसे र्शाहा र्म्भन अता है । तँ गेटी अदिना रखनेसे चित्तकी धिबुद्धिप्रकट होती है । ऋंरेंके
मारपीट करनेका भय ना रूनेसे नार्भियता अती है । पासमें हरण कसो ठारक कु छभी ना रूनेसे
धियास्नीयता अती है । कहा भी है -- वास्त्रकेमरिना होनेपर उस केधोनेकेति एगानी अद्विका अस्म

१. रःपिण्ड उपत षपा र्भतो --- ऋ . कु . ऋ ।

२. इस ज्जावरपिण्डे या च उज्जामे य पुसिजेड्डे य ।

कितिकम्मस्स य करणे चत्तारि आट्टिसा कप्पा ॥

अद्वेढकुदेसिया सपञ्चिकमपे य रयपि डेय ।

मां सप ज्जे सवापा छपे त ऽपट्टिता कप्पा ॥ --वृहत्कत्वसू ष, गा . ६३६१--- ६२ ।

पिण्डे भक्तोपस्करपाद्ययोगिद्रव्यं तर्जनाम् । सति श्रय्याधरपिण्डग्रहणे प्रच्छन्नामयं यो जये वहारदिकं
धर्म फलमेव । यो वा आहारं वतु मक्ष्मो वरिद्रे तुष्यो वानासो वासति प्रयच्छेत् । सति वासतिवने न
तो का मां निन्दन्ति स्थिता वास्तदास्य यतयः । ना वा शोभन्मन्मथ येन तेषामाहा रे वत इति । आहारं वासति
न प्रयच्छति । तस्मिन् बहुपक्वस्त्रिया यतैः स्नोहश्च स्यादिति दोषाः स्युः । अये पुनः श्रय्या गृहपिण्ड्या
इति पठिष्यात् एते वा चक्षते मार्गं वास्तुता यत्र गृहे च भ्रौ सुप्यते तत्रैवान्मन्मि भो ज्ञापस्त्रिरे
वासति संनिधद्रव्यनिमित्तपिण्डस्य वा त्याग इति । स ऊकीयपिण्डे ज्ञान --- अन्ना
स ऊषवेदोऽप्यकुप्रभृति कुठे जातो स ऊते प्रकृतिं स ऊयतीति वा स ऊ स ऊ स दृशो महार्धिको वा स ऊप्यते
। तत्प्राप्तिकर्मकतादिर्ज्ञानम् । तद्गृहप्रवेशे हि यतैः सा च्छर्वेत्कुक्कुचं च घृतः । तद्भूषणमेकनाद
वासु रगावेनां कासः । तं प्रति र्दितवसाद्युहासः । वारुवभिः

कसा पञ्जा है । ऐसी स्थितिमें संयम कैसे रह सकता है । वास्तुकेनाष्टहोनेपरमहान्पुण्योका भी धित
व्यकुठ हो जाता है और उन्हें दूरसे सेवास्त्री या ज्ञाना कस्ती पञ्जी है । दूरसे केवल सैं गोटीकेभी दूर
दिये जानेपरतत्कार क्रोध ऊपन्ना होता है । इसीसे संयमी जानोंका वास्तुदिग्गम है जो नित्य पठित
है और सभ्याको दूरकरता है ।

अद्यय सोमवेदो भी कहा है --- दिवना दिकसे द्रव्य करते हैं, अदिकस्तासे नाही । ऐसी
स्थितिमें प्राकृतिकनामतासे कैसा द्रव्य ? यदि मुनिज्जा पहन्नेकेदि एवात्कत, धर्म या वास्तुकी इच्छ
रखते हैं तो ऊामें नैषिकेन्द्र अर्थात् मेरा कु छभी नाही, ऐसा भवातथा अहिंसा कैसे सम्भवा है ?

इस तरह अनेकवक्त्र वास्तविक अर्थ नमता ही है औरवाह प्रथम स्थितिकत्व है । दूरसे है
श्रमपों केउद्देश्यसे बनायो गये भो ज्ञाना अदिको ग्रहणना कसा । बृहत्कत्वसूत्र (१।६३७६) में कहा है कि
ओ दस्यसे या द्दिभा स्यसे श्रमपों और श्रमपियोंके कुठ, गप और सं द्दकेसं कत्वसे जो भो ज्ञाना अदि
बनाया गया है वाह ग्राह्य नाही है । यह नियम केवल प्रथम और अन्तिम तीर्थ करकेसाधुओं केदि एहै । शेष
बाइस तीर्थ करके साधु और महादिक्के साधु यदिकिसी एक वक्त्रिदि शेषके उद्देश्यसे भो ज्ञाना बनाया
गया है तो वाह भो ज्ञाना उस वक्त्रिदि शेषकेदि ए अग्राह्य है अथ साधु उसे स्वीकार करते हैं । तीसरा
स्थितिकत्व है श्रय्याधरपिण्डत्याग । श्रय्याधर शब्दसे यहाँ तीन दिये गये हैं --- जिसने वास्तविक
बन्दागी है, जो वास्तविककी सफाई अदि करता है तथा जो वाहोंका वस्थापक है । ऊाके भो ज्ञाना
अदिको ग्रहणना कसा तीसरा स्थितिकत्व है । ऊाका भो ज्ञाना अदि ग्रहण कसो परवो धर्म फलके
तो भसे छिन्नाकर भी अहार अदिकी वस्था कर सकेगे । तथा जो अहार देनेमें असमर्थ है, वरिद्रया
तो भी है वाह इसदि एरुहनेको स्थान नाही देगा कि स्थान देनेसे भोजनादि भी देना होगा । वाहसो देगा कि
अपने स्थान पर रह कर भी यदिमें अहारदि नाही दूँगा तो तो गमेरे निन्द करेगे कि इसकेदसमें मुनि
वहरे और इस असा नेने उन्हें अहार नाही दिया । दूरसे, मुनिका उसपरदि शेष स्नोह हो सकता है कि यह
हमें वास्तविकेसाथ भो ज्ञाना भी देता है । किन्तु उसका भो ज्ञाना ग्रहणना कसोपर उत वेष नाही होते ।
आय कु छ अन्धकार श्रय्या गृहपिण्ड्या ऐसा पा ठरख कर उसका यह वसाखाना करते हैं कि मार्गमें जाते
हु एजिस दसमें रातको सोये उसी दसमें दूरसेकि भो ज्ञाना नाही कसा अथवा वास्तविककेनिमित्तसे प्राप्त
होनेवाके दससे बना भो ज्ञाना ग्रहण नाही कसा । स ऊपिण्डका ग्रहणना कसा द्दुर्थ स्थितिकत्व है । यहाँ

स ज्ञानसे जिसका जन्म हुआ आदिकुलमें हुआ है, अथवा जो प्रजाको प्रिय शासना देता है या
 स ज्ञानके मानने एश्वर्य शाली है उसका

स्त्रीभिर्भेद्युनासं ह्या वाध्यमानाभिः पुत्रिर्निर्दिष्टा इत्यस्य स्त्रीहे प्रवेशमुपभोगार्थम् ।
 धिप्रकीर्णस्नासुवार्पादिकस्यान्वैः स्त्रां वेस्तिस्व संवत अयात इति तत्र तत्रोस्त्रिकाध्वारेपपम् । स ज्ञानस्य
 धिशास्तो राजं नाशयिष्यतीति कुध्वैस्मात्वाविर्वाधकधादिकं च स्यात् । तथा स्त्रिणाशुद्धिः
 धीरक्तिकृतिसेवा शार्धस्नादेर्भोगचोरपं वास्त्रीदर्शनाद् स गोद्रेके तोक्तेतस्त्रीभूतिदर्शनाच्च
 तन्निवनाकरणं संभोत् । एतद्वेषामनोऽवचभेज्जासंभो च श्रुतधिच्छेदस्थिरार्थं स ज्ञपिण्डेऽपि ना
 प्रतिषिध्यते । कृतिकर्म --- षष्ठाश्वकनुष्कानु स्त्रां धिनयकरणं वा । व्रतारेपपयो यदा ---
 अत्रेकतायां स्थित --- औद्देशिकादि --- पिण्ड्या गोद्रेको नु स्मकितमान् धिनीतश्च व्रतारेपपयो यः स्यात्
 । अतं च ---

अत्रेककेय त्वि उद्देशादीयपस्त्रिदिदेसे ।
 नु स्मकितं म धिपीवे होदिव्रतपं स अस्त्रो दु ।। ७ []

ग्रहण किया है । उसके भोग्यादिको स ज्ञपिण्डकहते हैं । उसकेतीना भेदहैं --- अहार, अमाहार और
 उपधि । खाद्य अदिके भेदसे अहारके चारप्रकारहैं । चर्तई, पहावागैरु अमाहारहै, पीछे वागैरु उपाधि
 है । इनके ग्रहण करनेमें अनेक वेष हैं -- प्रथम स ज्ञानमें मन्त्री, श्रेष्ठे, कार्यवाहक अदि बचकर अते
 -- जाते रहते हैं, भिक्षाकेति एस ज्ञानमें प्रदिष्टभिक्षुको उनकेअने-अनेसे रुकाटाट हो सकती है ।
 उनकेकारण साधुको स्नानापडसकताहै । हाथी, घोड़ेकेअने-अनेसे भूमि शोधकरनाही कर सकता
 । नो भे साधुको देखकर और उसे अंनं नरमानकर काँड़ु चटकाहारकर सकता है, कोँड़ु उसे चोरभी
 समझ सकता है । क्योंकि स ज्ञानसे यदि काँड़ु चोर हो जाये तो तो स साधुको उसकी चोरता
 सकते हैं । कामोक्षासे पीछि स्त्रियाँ इत्यत् साधुको उभोगेकेति एसेक सकती हैं । राजसे प्राप्त
 सुखाद् भोग्याकेतोभसे साधु ओषपीय भोग्याभी ग्रहण कर सकता है । ज्ञयादि अनेक वेष हैं । किन्तु
 जहाँ इस प्रकारके वेषों की सम्मानना न हो और अथवा भोग्या सम्मान हो तो स ज्ञपिण्डभी ग्राह्य
 सकत है । पात्राँ स्थितिकत्व है कृतिकर्म । छह अष्टाश्वकों का पात्राक नु स्त्रियों की धिनय कृतिकर्म है
 । बृहत्कत्व भाष्य (गा . ६३९८-६४००) में कहा है कि चिस्त्रासे भी वैदिक साधुको एक त्रिके भी वैदिक
 साधुकी धिनय करूँगा चाहिए । क्योंकि स भी तीर्थकरों के धर्ममें पुरुषकी ही ज्येष्ठता है, धर्मके प्रपेता
 तीर्थकर पधर अदिपुरुष ही होते हैं । वो ही धर्मकी रक्षा करनेमें भी समर्थ हैं जो अत्रेक है, अपने
 उद्देश्यसे बनाये गये भोग्यादिका तथा स ज्ञपिण्डका त्यागी है, नु स्मकत और धिनीत है वही व्रतारेपपके
 योग्य होता है । यह छठ स्थितिकत्व है ।

बृहत्कत्व भाष्य (गा . ६४०२-७) में कहा है कि प्रथम तीर्थकर और अन्तिम तीर्थकरके धर्म में तो पाँच
 यम (महाव्रत) थे किन्तु शेष चर्तई तीर्थकरों का धर्म चतुर्था यथा । उसमें मैथुनत्यागको पस्त्रिह त्यागमें
 ही वे किया था । इसका कारण बताते हु एकहा है कि मन्वान् ऋषिभेदेकेसमयकेसाधु ऋषु ऋडथे ।
 इसदि एयदिपरिग्रहप्रतमें ही अतर्भवाकरके मैथुनव्रतका साक्षात् उपदेश ना दिया जाता तो वो ऋड

होनेसे यह नहीं समझ सकते थे कि हमें मैथुन भी छेड़ना चाहिए। उक्त पृथक्स्पष्ट रूपसे मैथुनका निषेध किया गया तो उन्होंने सरतसे उसका त्याग कर दिया। भद्रान् महर्षीरकेसमयकेसाधु

षट्वाहिसंज्ञीहिकितिकम्मं काश्टं ।

पुस्सुत्तिसो धम्मो सट्वाण्णिपापं पितित्थाम्मि ॥ --- वृ कृत्य भाष्य, ६३९९ भा. ।

ज्येष्ठता --- मातापितृगृहस्थोपाध्यायार्थिकाम्भियो महत्तमनुष्ठानेन वा श्रेष्ठताम् ॥८०॥
मासेकाशिता --- किं शब्दो रश्मेकरु ग्रामावे वासति तद्रास्तुक्तेः । एकरु हि त्रिस्तास्थानो
उद्गमादिवेषपश्चिन्नकमत्वं केरुप्रतिबद्धता शतगुस्तासता सौकुमार्यभ्रान्ना ज्ञाताभिक्षाग्राहिता च
वेषाःस्युचिति मूलचवनाटीकयाम् । तद्विषयकेतु यो गृहपातं यो ग्रासने च तस्मिन् स्थाने मासमात्रं
तिष्ठतीति मांसनामन्नामस्थितिकत्वोत्पत्त्यात् । उक्तं च ----

पञ्चिंशो बहुयत्तं प उपाध्याये प देसणिष्णापं ।

पापावेष अशुद्धी वेसा अविहासकखम्भि ॥ []

यो गृहेत्यादि -- वार्षिकस्य चतुर्षु मासेषु एकैवाहास्थानम् । स्थानारंभं गम्यमानकम हि तव
कितिरिति तव भ्रमपे हि महान्भ्रमः । वृष्ट्या शीतपातपातेन सत्प्रतिबन्धना । पते द्ववाप्यक्षि,
स्थापु कण्टकारिणिर्णा पच्छनैर्केने कर्दमेन वा बाध्यते । इति
दिशत्वधिकदिशसप्तमेकहास्थानमित्यमुत्सर्गः ।

व्यक्तं है । अतः मैथुनका साक्षात् निषेधना कसो पर यह जानते हुए भी कि परिग्रहमें मैथुन भी अता है,
व्यक्तहोनेसे परस्त्रीका सेवना करतेते और पूछो परकह देते कि यह हमारी परिग्रह नहीं है । इसदिए
भद्रान् ब्रह्म और महर्षीसो पं ह्याम धर्म की स्थापना की, किन्तु मध्यकेबाइस तीर्थकरोंकेसाधु ऋषु
प्राकृथे । अतः परिग्रहका निषेध कर देनेपर प्राकृ (बुद्धिमान् द्विजना)होनेसे उपदेश मात्रसे ही समस्त
हेय उपादेशको समझतेते थे । अतः उन्होंने निश्चयकिया कि बिना ग्रहण किये स्त्रीको नहीं भोगा जा
सकता अतः मैथुनका सेवना भी त्याज्य है । इस प्रकार मैथुनको परिग्रहमें अतर्क्य करके चतुर्षु धर्मका
उपदेश मध्यके बाइस तीर्थकरोंने दिया । साक्षात् कृत्य है पुरुषकी ज्येष्ठता । माता, पिता, गृहस्थ,
उपाध्याय अदिसे महर्षी ज्येष्ठहोता है या अचार्य सभसे ज्येष्ठहोते हैं अर्थात् स्थितिकत्व है प्रतिक्रमप
। दोष तन्मोपर उसका शोधन कसा प्रतिक्रमप है । इसका पहले कथना कर आये हैं । जैसे प्रथम और
अन्तिम तीर्थकर तथा शेष बाइस तीर्थकरोंकेसमयकेसाधुओंको तक्षमें रखकर ऋताम्भरीय साहित्यमें
पं ह्याम और चतुर्षु धर्मका वेद कहा है, वीसा ही वेद प्रतिक्रमपको लेकर भी है और मूलाग्रसों भी
उसका कथना उसी आधारपर किया गया है । दिखा है कि प्रथम और अन्तिम जिसका धर्म सप्रतिक्रमप
है अर्थात् वेद लेने या न लेने, प्रतिक्रमप कसा ही चाहिए । किन्तु मध्यकेबाइस तीर्थकरोंकेसमयकेसाधु
वेद तन्मोपर ही प्रतिक्रमप करते थे क्योंकि वे ऋषुप्राकृथे --- सरत और बुद्धिमान् थे । परन्तु

प्रथमजिन्नाकेसाधु ऋषु ऋड और अन्तिमजिन्नाकेसाधु वाक्कडहैं । तथा --- बृहत्कत्य भाष्य (गाथा ६४२५) में भी यही कहा है --- इसकी टीका में लिखा है कि प्रथम और अन्तिम जिन्नाकेतीर्थ में सप्रतिक्रम प धर्म है -- दोनों समय नियमसे छह अवाशक कसो होते हैं । क्योंकि उनकेसाधु प्रमादबहु रहनेसे श्रुत होते हैं । किन्तु मध्यम जिन्नोंकेतीर्थ में उस प्रकारका अग्रध होनेपरही प्रतिक्रमपका धिधान है क्योंकि उनकेसाधु प्रमाद नहीं हैं , श्रुत नहीं हैं । अस्तु ।

अपिचि कमपो धम्मो पुस्मिस्स य पच्छिमास्स य णिपस्स ।

आरहे पहिकमपं मज्झिमयापं णिपारं प ॥ --- मू ल म्बर ७/१२९ ।

अपिचि कमपो धम्मो पुस्मिस्स इपच्छिमास्स य णिपस्स ।

मज्झिमयाप णिपापं कारणं एपिचि कमपं ॥ []

कारणापेक्षया हीनामधिकं वा ङास्थानम् । सर्वतानामाषाढशुद्धदशम्याः प्रवृत्ति स्थितानामुपरिष्ठा च कार्तिकपौर्णमास्यास्त्रिदश्यास्याम् । वृष्टिबहुतां श्रुताग्रहणं शक्यत्वात् वीर्यवृत्तकरणं प्रयोक्तव्यमिच्छास्थानमेकमेतुत्कृष्टः कारः । मार्ग दुर्भिक्षे ग्रामजापदत्तो वा तच्छन्मिति समुपस्थिते देशान्तरं याति । आस्थाने सति रत्नाद्यविरचनां शिष्यतीति पौर्णमास्यामाषाढ्यामतिव्रन्तायां प्रतिपद्विष्णु विष्णु याति यथा चत्वारो दिशाः । एतदपेक्ष हीनाता कारस्य । एष दशमः स्थितिकत्य इत्याचरणाटीकयाम् । तद्विषयके कतु वृथां वृथां मासां निषिद्धिं क्रतु वेति पाद्ये नाम दशमः स्थितिकत्य व्याख्यातः । अतं न ---

छह ऋतुओं में एक स्थान पर एक ही मास रहना अथ समयमें धिहार कसो यह नौवाँ स्थितिकत्य है । अपि . अषाढरजिने दसवो कत्यका नाम वार्षिकयो न कहा है । वार्षिककके धारमासोंमें एक ही स्थान पर रहना दसवाँ स्थितिकत्य है क्योंकि वार्षिक ऋतुमें पृथ्वीसाधार और जं म जीवों से शरी होती है । उस समय श्रमप कसोमें महान् असं श्रम होता है । इसकेसाथ ही वार्षिकसे तथा शीत इंद्रातसे अग्नी भी धिरचना होती है । उता श्रव वागैरुमें तिसोका भय रहता है । पानीमें छिछो टूँ ठकाँ टे वागैरुसे भी तथा की दृश्ये भी बाधा होती है । इस समयमें एक सौ बीस किा तक एक स्थान पर रहना चाहिए यह ऊर्सा है । विशेष कारण होनेपर अधिक और कम किा भी कर सकते हैं । अर्थात् जिन्ना मुनिगोंने अषाढ शुक्ला दसमीसे ऋतुर्मां श किया है वो कार्तिककी पूर्णमासीकेबाद तीस किा तर अने भी उसी स्थान पर कर सकते हैं । व्ह सोकेकारण है वार्षिकी अधिकता , शास्त्राचार , शक्तिका अभाव या किसीकी वीर्यवृत्त कसो । यह व्ह सोका ऊकृष्टकार है । यदि दुर्भिक्ष पड जाये , महामारी फैल जाये , गँवा या प्रदेशमें किसी कारणसे अथ व-पु श्रुहो जाये तो मुनि देशान्तरमें जा सकते हैं । क्योंकि ऐसी स्थितिमें वहाँ व्ह सोसे रत्नाद्यकी धिरचना होगी । इस प्रकार अषाढकी पूर्णमासी भीतनेपर प्रतिपदवदिके किा जा सकते हैं ।

पि . अषाढरजिने दस कत्योकी व्याख्या अग्नी संस्कृत टीका में भवती अचरणाकी अग्रचित सूरिकृत टीकाके अनुसारही की है । किन्तु वार्षिकीमें हीन किाकेप्रमाणमें दोनों में अंतर है । दोनों लिखते हैं कि अषाढी पूर्णमासी भीतनेपर प्रतिपदवदिको जा सकते हैं किन्तु अषाढरजि धार वीना हीन

कस्ते हैं यथा --यौर्ष मास्यामाषाढयामतिक्रान्तावां प्रतिपद्विषु द्विषु याति यद्वाक्त्वासे दिासाः ।
 एतद्वेष्य हीनता का ढस्य ।ड और अरुचिं सूरि बीस विा कम कस्ते हैं ।यथा --यद्वाक्त्वा त्यक्ता
 दिा शतिदिासा एतद्वेष्य हीनता का ढस्य ।ड श्रोताम्बर पस्पचमें भी वार्षाशोका उकृष्ट का ढ अषाढ
 पूर्णिमासे लेकर कार्तिक पर्यन्त चारमास कहा हैं । और उच्यते का ढ भाद्र शुक्ला पं च्मीसे नाममें भी
 अतर हैं । दस कत्थों के नामों का इतमनेवाली ,ड श्रोताम्बर पस्पचके अनुसार दसों कत्थका नाम
 घज्जो रूपाप है । इसका संस्कृत रूप होता है धर्युषपा कत्थ । अर्थात् साधु जो वार्षाशोका करते हैं वह
 पर्युषपा कत्थ है ।दिाम्बर पस्पचमें इसीसे भाज्जासके अन्तिम दस दिाओं केपर्वाको पर्युषपा पर्व भी कहा
 जाता है ।किन्तु ऋषि अरुचना और मूलमन्त्रों पज्जे और सवापको अतः-अतः मानकर अर्थ
 किया गया है । ऋषि अरुचनाकेटी काकर

घ्ना उमासुक्को से सत्तरिां इन्द्रिया उहण्णे प ।वृ .कत्थसु ऋ भाष्य ६४३६ ॥

धअ हे त्वसौ द्वेष्य कश्च य्या तृहर जपि णकृति कर्म ।

ज्ये षट्प्रातःप्रतिक्रमं स पा द्यम्रमपकत्थः ॥

एतेषु दशसु नित्यं समाहितो नित्यं चतामि रू ।

धपकस्य दिा बुद्धिमसौ यथोक्त ध्यां समुद्दिशति ॥ [] ॥८१॥

अथ प्रतिमासोऽस्थितस्य मुनेः क्रियादिषिमाह ---

त धीयसो ऽपि प्रतिमासोऽग्निो योऽग्निः क्रियाम् ।

कुरुषु ऋषो ऽपि सिध्वर्षे शान्ति भक्तिभिश्च दसात् ॥८२॥

अरुचिं सूरि तो तिखा है --यज्जे समप कप्पो नाम दशमः,ड वार्षाक ढस्य ऋतुषु मासेषु
 एक ऋषिस्थानं इमपत्याः । इाके अर्थमें देनाही हैं ।किन्तु इससे अनेके ग्रन्थकारोंने दसों कत्थका
 नाम केाढ घज्जो उही सम इन्द्रिया । पं . अशाधरजीने अपनी मूलरचनामें घज्जो उका ही अर्थ
 वार्षाक ढके चारमासों में एक उाह रूना किया है । किन्तु यह पूरा अर्थ घज्जो रूपाप उसे निष्पन्न होता
 है । धरिड उरुर्षा पूर्वक धार उसे प्राकृतका पज्जे रूपाप शब्द बना है । मूलमन्त्रके टीकाकर
 वासुनादि अचार्याने आंस पज्जे उका विधि ही अर्थ किया है --- आसोः योऽप्रहपात्
 प्राड्मासमा ऋषिस्थानं कृत्वा वार्षाक दे यो गो ऽहस्तथा योऽं समाप्य मासमा ऋषिस्थानं कर्तव्यम् ।ड
 अर्थात् वार्षाशोका इहप कसोसे पहले एक मास उरूना चाहिए ।उाके बाद वार्षाक ढ अनेपर योऽं इहप
 कसूा चाहिए । तथा योऽं समाप्य करके एक मास उरूना चाहिए ।ड

ऐसा क्यों कसूा चाहिए एाह इतमते हुएाह लिखते हैं *--- तो गों की स्थिती जाननेके लिए और
 अहिंसा अद्विगतों केपा ढोके लिए वार्षाशोकासे पहले एक मास उरूना चाहिए और वार्षाशोका बीतनेपर भी
 एक मास और उरूना चाहिए जिससे श्रावक तो गोंके मुनिदिशोका दुःख ना हो । अने अथा देकर
 दूसरा अर्थ कस्ते हैं कि प्रत्येक ऋतुमें एक - एक मास मा ढ उरूना चाहिए और एक मास विहारकसूा

चाहिए । यह मास नामक श्रमप कत्य है । इसके बाद अथवा करके तीसरा अर्थ करते हैं -- अथवा
वर्षा कर्मों को ग्रहण करना और चरन्धारमासमें नन्दिशारकसा यह मास श्रमप कत्य है ।

इस तरह वासुनन्दिजीने दसों कत्य का जो अर्थ है उसो नाम कत्य का ही अर्थ मान लिया है । अब
दसों का अर्थ करते हैं -- घज्जे -- घर्षा पशुपासनं निषक्कायाः पञ्चकत्यापस्थानानां च सेवनां
पशुत्तु चते, श्रमपस्य श्रामपस्य वा कत्यो दिकत्यः श्रमपकत्यः । उ अर्थात् घज्जे उ का संस्कृत स्प
होता है घर्षा । उसका अर्थ है अच्छी तरह उपासना कसा अर्थात् निषद्य अं का और पं चकत्याप
स्थानों का सेवना कसा । यह पज्जे नामक श्रमपों का कत्य है । इस तरह घज्जेकापकत्पो उमें -- से
पज्जे के अंतर करके और घटाप उको श्रमप मानकर दसों कत्यके नाम का विपर्यय हो गया है ।

पं . अशाधरजी तो वासुनन्दिके पश्चात् हु एहैं किन्तु उन्होंने मासकत्य का अर्थ अमान्य कृत ही
किया है । तथा दसों कत्य का नाम यो अर्थात् वर्षा यो रख दिया है । इस तरह वासुनन्दी अक्षर की
तरह उनके अभिप्रायमें अंतरनाही हैं ॥८०-८१॥

अने प्रतिमायो से स्थित मुनिकी क्रियाविधि कहते हैं --

किं -- कर सूर्य की तरफ मुख करके कायोत्सर्ग से स्थित रहनेको प्रतिमायो कहते हैं ।
प्रभिमयो धारण कसोवाता साधु यदिदी कामे कंठु हो , तर्क भी सभी अथ साधुओं का

प्रतिमायोभिः -- किं यदावभ्यूर्ध्वं कायोत्सर्गवास्थाभिः । सर्वा इपि -- श्रमपाः । उत्तं च --

प्रतिमायोभिः साधोः सिध्वना गच्छान्तिभिः ।

विधीयते कक्रिया काण्ड सर्वासं हैः सु भक्तितः ॥ ८२ ॥

अथ वी का ग्रहण तु ज्जाक्रियाविधिमाह --

सिध्वयोः सिध्वत् भक्तिपूर्वाकंति उत्पद्यताम् ।

तु ज्जाखाना नरपि च्छत्म क्षम्यतां सिध्वत्कितः ॥ ८३ ॥

अथ र्यतां -- असे प्ताम् । अख्या नामकरणम् । नामकरणम् । क्षम्यतां विदुर्ष पविधानं समाप्यताम्
॥ ८३ ॥

अथ वी कान्नोत्कर्तव्यं पद्यतेनाह --

दातस्मितीन्द्रियसे वाः पञ्च पृथक्कितिशयो रत्न धर्मः ।

स्थितिसकृदशने तु ज्जाशयकषट्केति हेतता खानाम् ॥

ज्ज्यष्टादि शक्ति मू र्णुपन् निक्षिप्य विहिते ।

संक्षेपे पस्यीतावेन्पापी कुर्यात् प्रतिक्रमम् ॥ ८४-८५ ॥

पञ्च पृथक्कपञ्च पञ्चेत्यर्थः । रत्न धर्मः -- अकारणम् ।

अ दरके साथ सिद्धभक्ति, योगिभक्ति और ज्ञानिभक्तिपूर्वक उा की क्रियाविधि कस्ती चाहिए ॥ ८२ ॥

अने विकाग्रहण और केशों की क्रियाविधि कहते हैं -

केशों में, नामकरण, नामता और पीछे ही जिन्ति रकेस्य हैं । अर्थात् निर्विकार केश कस्ते समय केशों कस्सा होता है, वास्का सर्वथा त्याग कस्सा होता है, न्नीन नाम रख जाता है तच्चा पीछे-कमण्डु मिया जाता है । ये स क् जिन्ति र हैं । ये किं र बृहत् सिद्धभक्ति ओर बृहत् योगिभक्तिपूर्वक देना चाहिए और सिद्धभक्तिके साथ किं र वनाके इस विधानको समाप्त कस्सा चाहिये ॥ ८३ ॥

विका वनाके बादकी क्रिया वे राथाओं से कहते हैं -

पाँच महान्त, पाँच समिति, पाँचों इन्द्रियों को वास्ते कस्सा, पृष्ठीपर सोना, क्तावनाना कस्सा, खडे होकर वे क्ना कस्सा तथा किमें एक ही बार भो क्ना कस्सा, केशों में, छह अवाश्यक, वास्का मा क्का त्याग और स्नानन कस्सा ये अर्द्धांश मू गुप हैं । तथा चौरासी लाख गुप और अठरूह जरशी क् हैं । विका देनोवाके आचार्यको वीक्षित साधुमें संखेपसे ज्ञा ज्तरुपों और चर्चके साथ अर्द्धांश मू गुपों की स्थापना कस्के बाद प्रतिक्रमप कस्सा चाहिए ॥ ८४-८५ ॥

विशेषर्थ - साधु जीवन बड पदि क् जीवन होता है । उसके इस मानदण्डको बनाये रखनेके लिए साधु जीवनमें प्रवेश कस्केवामें से कुछ शैष्टिकी अपेक्षा की जाती है । इसमें कुछ क्कितों को साधु बननेके अधिकारसे वंचित रखा गया है - बाक, वृद्ध, नापुंस्क, सेमी, अहीन, डरपोक, बुद्धिहीन, डूक, चक्रेषु क्, पाक, अध, दास, धूर्त, मूढ, कर्षवर, भागाहुआ, रफिपी, प्रसूता । बौद्ध महात्तममें भी सैनिक, सेमी, कोर, जे क् तो क्कर भाग्नेवाला, डूक, र्षवर, दास और तपे कोहेसे वगे हुए क्कितोंके संघमें सम्मिलित कस्केवा अधिकार कहा है । प्रवन्नासाके चरित्राधिकारसे कहा है कि यदि दुखसे छूटना चाहते हो तो मुनिधर्मको स्वीकार करे । जो मुनिधर्म स्वीकार कस्सा चाहता है ।

प्रतिक्रम - द्रातासेपप्रतिक्रमम् । तस्मिन्ने वा किो सूरिः कुर्यात् । सु क्मा क्को कतिपयदि सट्काधने डीपे ॥ ८५ ॥

अथान्य च्चानतो क्कामिक्रियानुष्ठानानिर्प राथार्थाह -

तो जे द्विक्कितुर्मा सैरे मध्यो अमः क्रमात् ।

तधु प्रा म्कितभिः कार्यः सो फासप्रतिक्रमः ॥ ८६ ॥

त धु प्रा म्कितभिः -- त धु सिद्धयोगि भक्तीयां प्रतिष्ठप्यः त धु सिद्धभक्त्या निष्ठप्यः ज्क्यर्थः । उक्तं

क --

'तो जे द्विक्कितुर्मा सैः सो फासप्रतिक्रमः ।

त धु सिद्धवर्षि भक्त्याः क्षम्यते सिद्धभक्तितः ॥' []

॥ ८६ ॥

अथादिमान्तिमतीर्थं कस्मोवा च्यतादिने केना सामाधिकमुपदिशत एम नाति ऊता द्यो द्विदि शतिरिति
सहेतु केच मा छटे -

दुःखो धर्मं कुं ऊरिति पु रिति वी रे ईद्वि द्वाताविभिव ।
दुष्पा तं वाक्रुञ्चैरिति सामयन्नापरे सुपटु शिष्याः ॥ ८७ ॥

उसे सबसे प्रथम परिास्से पू छा म्हिए अं र ऊद माता पिता , पत्नी मु ऋ अदि मुक्त कर दें तो किसी
पु प सम्पन्न िशिष्ट कु स्म अं र वावसे युक्त अ चर्च केमास जा कर प्रार्थना करे । उाकी अंु ज्ञ मि ऋपर
वाह िधिपूर्वाक वे का ले करना मादि म्हरहो जाता है । वाह अतरं अं र वा ह्विते ि धारण करनेकेु स्को
नामस्कार रके उाकसे सर्वा स्या द्य सोन क तथा ि स्या एक महाद्यतको जनाकर अह्वा इस्स मूत पु प पूर्ा क
सामाधिक संयमको धारणक स्ो श्रमप बना जाता है । ऋ . ज्ञाताधर्म कथा नामक अंामें वे कादिधिक
दिस्तास्से वार्पन मि ऋता है ॥ ८४-८५ ॥

मुनिवै काकेसमय तो केशर्तों िकिया ही जाता हैँ उसके बाद केशो िका कात और क्रियादिधि
कहते है --

केशों िकेतीना प्रकार है -- ऊकृष्ट, मध्यम और अधर्म जो वे माहके बाद किया जाता है वाह
ऊकृष्ट है । तीना मासके बाद किया जाये तो मध्यम और चार मासके बाद किया जाये तो अधम है । यह
आश्व कस्मा म्हिए । इसका प्रास्म ऋषु सिध्दभक्ति और त हु योिभक्ति पूर्वाक होता है और
समापितपर ल हु सिध्दभक्ति की जाती है । तथा उस किा उवास अं र केशर्तों च सम्न्धी क्रियाका प्रति-
क्रमप भी करना म्हिए ॥ ८६ ॥

दिशेषार्थ -- ऋोताम्बरसाहित्यमे भी तो िक केसम्न्धमें ऐसा ही िधान पाया जाता है ॥ ८६ ॥

अंे कहते हे । क्रिया प्रथम और अन्तिम तीर्थ करने ही च्यतादिने के दसे सामाधिकका उदेश
दिया , अजितनाथ अदि बाईस तीर्थ करने ने नहीं तथा उसका कारण भी कहते है --

ऋ ऋान् अदिनाथके शिष्य ऋषु ऋडथे अर्थात् सरत होनेपर भी अज्ञानी थे अतः ऋे दकिये िना
समायम्वा स्य सामाधिक चरिाको नहीं समझ सकते थे । इसलिये ऋ ऋान् अदिनाथने ऋे दस्मा सामाधिक
संयमका उदेश दिया । ऋ ऋान् महाणी स्के शिष्य वाक्रुञ्चैरिति , अज्ञानी होनेकेसाथ हृदयक केसरत नहीं
थे अतः ऋ ऋान् महाणी सो भी ऋ ऋान् अदिनार्थ की तरु ही ऋे द सहित सामाधिक चरिाका उदेश
किया । किन्तु मध्यके बादसे

पु रिति - अकिाथा र यथा । सुपटुशिष्याः - ऋषुवाक्रुञ्चैरिति सुषुडुपठो शिष्या येषाम् ॥

८७ ॥

अथ िनामु त्रयो यतास्थापनामुपदिशति -

सुदेशकृत् जत्य डेवा ह्यपे खचित्ये िधि ।

निष्कण्ड उक्तेषु— ब्रह्मत्या पादरहिते । ऋग्मे स्थाप्या ऋग्निमुद्रादिभिः सताम् । अतः ८—

ब्रह्म ह्येति ऋग्मे दैव्ये सु देशकुलजातिषु ।
अर्हंतः स्थाप्यते त्रिदशनिघ्नान्कविक्रु ॥
पतितार्क्या सा देया ऋग्नीमुद्रा बुधार्चिता ।
रत्नामामं सतां यो ग्या म उक्ते न द्विधीयते ॥

तीर्थ कर्म केशिष्य सरत होनक के साथ बुद्धिमान् दृष्टे । सामायिक कहने से समप जाते थे । अतः बार्हस्पत्य तीर्थ कर्मने दत्तादिके से दूर्वाक सामायिकका थ कान् नही किया ॥ ८७ ॥

विशेषार्थ — अस र्मे स्थाप्या द्ययो एक के प्रत्याख्यान रूप एक महाघातकेही भेद अर्हि सा, सत्य, अचार्य, ब्रह्मर्ष और उपरिग्रह हैं और उसीके परस्पर पाँच सभिति अदि शेष मू र्णुप हैं । इस तरह ये निर्दिक्त सामायिक संवमकेही भेद है । जब को 'इमुनिविक्षा वेता है तो निर्दिक्त सामायिक संवम ही पर अस्त होता है । किन्तु अस्यासन होनेसे ऊँ उसके च्युत होता है तब वह भेद स्पष्ट व्यक्तों को धारण करता है और वह छेद पस्थापक कहता है । इस छेद पस्थापना चरित्रका उपदेश केन्द्र प्रथम और अनितम तीर्थकरो ही दिया क्योंकि प्रथम तीर्थ करके साधु अज्ञानी होनेसे और अनितम तीर्थकरे साधु अज्ञानी होनेके साथ कुटिल होनेसे निर्दिक्त सामायिक संवम स्थिर नही रह पाते थे तब उहे व्यक्तों को छेदकर दिया जाता है' कहा है— बार्हस्पत्य तीर्थकर केन्द्र सामायिक संवम ही उपदेश करते हैं किन्तु ऋग्निमुद्रा और ऋग्निमुद्रा महाघात छेद पस्थापना करी करते हैं ॥ ८७ ॥

ऋग्निमुद्रा धारण करने की योयता इत मते हैं —

ऋग्निमुद्रा इन्द्रदिके ऋग्म पूजा है । अतः धर्मरक्षकों को प्रश्नस्त देश, प्रश्नस्त वांश और प्रश्नस्त जातिमें उपन्न हू एवा ह्य, विष्णु और रवौश्यको, जो निष्कण्ड कहै, ब्रह्मत्या अदिका अग्रधी नहीं है तथा उसे पातन करनेमें समर्थ है अर्थात् ऋग्म और रवौध्वनही है उसे ही ऋग्निमुद्रा प्रवृत्त करना चाहिए । वही साधु पदकेयोय है ॥ ८८ ॥

विशेषार्थ — ऋग्निमुद्राके योय तीना ही वर्णमाने गये हैं— ब्रह्म, ऋग्म और रवौश्य । अचार्य सोमकेने भी ऐसा ही कहा है— अचार्य ऋग्निसेनने कहा है— ऋग्म कुल और

न को मलय बालय वीयते दत्तमर्चितम् ।

नहि यो ग्ये महोक्षस्य भारे वात्स्ये निबोजयते ॥ []

न ऋग्निमुद्रा पां दी क्षावनादिकं विरुध्यते । स च ऋग्निस्तानां तद्विद्वान्नात् ।

यवह—

गो रुद्राशुद्ध है, चरित्र उत्तम है, मुख सुन्दर है और बुद्धि सनमार्ग की ओर है ऐसा पुरुष ही वीर का ग्रहण के योग्य है।

पिताकी अन्ध बुद्धिको कुल और माताकी अन्ध बुद्धिको जाति कहते हैं। अर्थात् जिसका मातृकुल और पितृ कुल शुद्ध है वही ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वीर का पात्र माना गया है। केवल जन्मसे ब्राह्मण अदिहोनेसे ही वीर का पात्र नहीं होता। कहा है--जाति, गो रुद्रादि कर्म शुक्लध्यानके कारण हैं। जिन्हमें वो होते हैं वो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कहे जाते हैं। शेष सब शूद्र हैं 'कुल और जातिके साथ सुदेशमें जन्मको भी जिन्हा वीर का के योग्य बताया है। जैनसिद्धान्तमें अस्तके चक्रों के चारों में विभक्त किया है-- कर्म भूमि और अकर्म भूमि। जिन्हा मुद्रका धरण कर्म भूमिमें ही होता है अकर्म भूमिमें नहीं, क्योंकि वहाँ धर्म कर्मकी प्रवृत्ति अभाव है। किन्तु अकर्म भूमि मनुष्यके संयम माना है। यह कैसे सम्भवा है? इस चर्चको जयकामसे दिया जाता है-- उसमें कहा है-- 'कर्म भूमि रस' ऐसा कहनेसे पन्द्रह कर्म भूमियों के मध्यके खण्डों में उत्पन्न हुए मनुष्यका ग्रहण करना चाहिए। अस्त, ऐश्वर्य और दिव्य खेत्रों में दितनीत नाका के मध्य खण्डकी दो ऊपर शेष पाँच खण्डों में रहने वाला मनुष्य यहाँ अकर्म भूमि का कहा गया है क्योंकि इन खण्डों में धर्म-कर्मकी प्रवृत्ति अस्मत्त्वा होनेसे अकर्म भूमिपना बनाता है। अतः-- यदि ऐसा है तो वहाँ संयमका ग्रहण कैसे सम्भवा है? समाधत्त ऐसी अंश करना ठीक नहीं है। क्योंकि विभक्त करके प्रवृत्त चक्रार्थी की सेनाके साथ जो मते चरित्त मध्यम खण्डों में आ जाते हैं और वहाँ चक्रार्थी अतिके साथ जिन्हाका वैवाहिक सम्बन्ध हो जाता है उसके संयम ग्रहण करनेमें कोई इतिषेध नहीं है। अथवा जाकी जो कर्वाएँ चक्रार्थी अतिके साथ दिवाही जाती हैं उनके गीतसे उत्पन्न बाधक यहाँ मातृपक्षकी ओर का अकर्म भूमि का कहे गये हैं। इसलिये कोई इतिषेध नहीं है क्योंकि इस प्रकारके मनुष्योंके वीर का योग होनेमें कोई इतिषेध नहीं है।

इस तरह मनुष्यका अंशसे उत्पन्न कर्म भूमि मनुष्योंको भी दिखीके योग्य माना गया है किन्तु जाका कुल अदि शुद्ध होना चाहिए। कहा भी है-- उत्तम देश, कुल और

जाति नो भद्रिकर्मापि शुक्लध्यानस्य हेतवः।

येषु ते स्युस्त्रयोवर्षाः शेषः शूद्रः प्रकीर्तितः ॥ -- महापु . ७४/४९३

'कर्म भूमि रस' ति वृत्ते पण्य रस कर्म भूमि सु मज्जिमखं उसु मुपण्य रस ग्रहणं कायवत्। को अकर्म भूमि ओ पाम ? अरहे स्वरदिद्वेषु विपीदसण्णदमज्जिमखं उ मोनूष से सपं च्छं उन्निहासी मपु ओ एत्था कर्म भूमि ओ त्ति विदिदिख ओ, तसेस धम्म कम्म प्पुत्ती एअसं भोप त अणोवहासी वे। उ इहां कुवे तत्थ संजम महप संभोत्ति पासं कपि ज्जं, दिसादि ज्यपवट्ट-चक्काट्टि खं धम्मारेण सह मज्जि तम खं ज्ञातयापं भित्ते च्छयापं तत्थ चक्काट्टि आदीशहि सह जादोवाहिसं भेदापं सं ज्जमपिडाती ए विरेहणावे । अथवा तत्कन्यकानां चक्रार्थी विरिणीतानां र्भेषु त्वन्नामात्त्वा धपेक्षया स्वरमकर्म भूमि आ ज्जीह विदिदिताः। ततो ना किन्दि विप्रतिषेधिं, तथ जतीयकानां वीरार्हो प्रतिषेधात् ।'

दं स्रणा पुवात्सो सिस्स महपं ऋपो सपं तेसिं ।

ऋस्या हि स रायापं जिष्णिदपू जेवाप् एसो य ॥ [प्रवाक्कासर ३/४८] ॥ ८८ ॥

अथ महाध्रतदिहीनास्य केनैवाजिा वे षडिषु धिर्का स्यादिति दृष्टान्तेन स्पष्टयति -

महाध्रता दृते वे षो न जीवास्य दिशो ध्यते ।

दिडेता तो या दूषेप वास्नास्य यथा म ऋः ॥ ८९ ॥

स्पष्टम् ॥ ८९ ॥

अथ जिष्णुवतस्य दातं कषायदिषु ध्ये स्यादिति नि दर्शनेन दृढयति -

मृ द्या ऋकेष तु ष डा वतै ति खहेप गार्हस्थे ।

मु ष तेना कपे कुण्डक डा नरिषो ध्यो दातेन हि कषायः ॥ ९० ॥

कपे -क ऋमादिघनायं षे । कुण्डकः--आर्त्तोष्णाम ऋः आर्त्तोष्णामतः । शो ध्यः--शे षयितुं षक्यः ॥

९० ॥

जातिमं ज्नामे हु एडा हण , क्षत्रिय और वैश्यको जिर्नाहिं ऋ धारण करया जाता है , निन्दीय पु र्णों और बा ऋकों को नाही । विक्नोंसे पू ऋनीय जिर्नामु द्र पतित ऋनों को नाही देना चाहिए । सत्पुर्णों केयो य रत्नामालको कुत्तेके ऋ तेमें नाही पहनाया जाता । जू ऋनीय जिर्नाहिं ऋ को म ऋमति बा ऋकको नाही दिया जाता । ज्नाम है ऋकेयो य भास्को वाहन कस्में ऋछडेको नाही त गया जाता । शायद को 'इ कहें कि मुमुक्षुओं को वे षा देना अदिकार्य दि रूदप ज्ना है कयो कि जो मुमुक्षु हैं उहे डा बातों से क्या प्रयो ज्ना । उसे तो मा ऋ अत्महितमें ही ऋ न्ना चाहिए । किन्तु ऐसा कहना ठे क नाही है कयो कि जो मुमुक्षु मुनिपद धरण करके भी कषायका ते ष जीहित होनेसे षु ध्वेपयो ऋकी ऋमिकापर अ रेहरण कस्में असमर्थ होते हैं वे षु ध्वेपयो ऋकी ऋमिकाकेपासमें निदास कस्वाते षु ऋपयो गी ऋी मुनि होते हैं कयो कि षु ऋपयो ऋका धर्मकेसाथ एकां थ सक्ताय है" अतः षु ऋपयो गियों केभी धर्म का सक्ता होता है । षु ऋपयो गी मुनि वे ष वना अदि कस्ते हैं । कहा है -दू ऋरेंपर अणु गृह कस्की इच्छपूर्वाक सम्य ऋर्षन और सम्य ग्जानके उपदेशमें प्रवृत्ति , षिष्योकेसं गृहमें प्रवृत्ति , जाकेपोषणपमें प्रवृत्ति और जिर्नो न ऋकी पू ऋका उपदेश ये षु ऋपयो गी श्रमपों की ऋर्या हैं । किन्तु षु ऋपयो गी श्रमप जो भी प्रवृत्ति करता है वाह सर्वाश्रयं ऋके अदिरे षपूर्वाकही करता है कयो कि प्रवृत्ति सं ऋमकेठिएही की जाती है ॥ ८८ ॥

अ ते कहते हैं कि जो महाध्रतों का अ ऋरण नाही करता उसके वे षों की दिषुद्धि केा ऋ जिर्नाहिं ऋ धारण से नाही होती -

जैसे , उठकेबिना केकर खाये मिट्टीसे वासुका में तू दूरनाही होता , उसी प्रकार महाघातका पातना किये बिना केकर बा ह्यतिं नसे अर्थात् नम रूने , केशतों एकसे अदिसे जीकेस गदिदेष दूरनाही होते ॥ ८९ ॥

किन्तु जैसे केकरवा ह्यति ह धारण कसेसे वेषों की विबुद्धिनाही होती , वैसे ही बात्य तिं के बिना केकर महाघातसे भी वेषों की विबुद्धिनाही होती । किन्तु तिंसे युक्त द्यतसे ही वेषों की विबुद्धि होती है , यह अने दृष्टान्त बर कहते हैं

जैसे मिट्टीसे बने यन्त्रविशेषसे ऊँच धानके उमरका छिन्नका दूरकरदिया जाता है तब उसके भीतरकी पतली पिमीको मससे छेकरदूररकिया जाता है । उसी तरह द्यतको

अथ ब्रूमिष्यनदिषनामाह -

अनुत्तानो ऽद्या उरुप्यादब्रूदेष्टे ऽसं सृते स्वादम् ।
रामा ष्टे सं सृते ऽस्यं वातृ पादिष्यन्ते ऽपिवा ॥ ९१ ॥

अद्या उ-अनुधोमुखः अथवा रानाद्वनरेतश्चानादिवेषाम्नायात् । रूपात्तदण्डाद् धनुर्वद्द एकपार्श्वेन शतीवेत्यर्थः । अत्यं - नृहस्थादिसो यं प्रच्छकारहित इत्यर्थः । तृपादि-अदिष्यन्ते कानाष्ट शिदिष्यन्ते । तन्नपि ब्रूमिष्येष्टात्सं सृते असं सृते वा ।

अतं ६-

'फासुव ब्रूमिष्येदेसे अपमस्थारिर्विहपच्छणे ।
दं ब्रुपुट्टासेज्जं खिदिसयपं एपासेप ॥' [मूलचरना . ३२] ॥ ९१ ॥

अथ स्थितिभेज्जनादिषिका माह -

तिरुके आसाद्यतना ऊर्मध्ये ऽ ह्यत् स्थितसकृत् ।
मुहूर्त्तमेकं द्वै त्रीन्वा राहस्तेनानापाश्रयमः ॥ ९२ ॥

आपाश्रयः :- भित्तिस्तम्भ द्वाष्टम्भरहितः । अतं ६-

उदयत्यमपे कारे इमीतिरुज्जियमिहमज्जमिह ।
एकमिह दुयति एवा मुहुत्तकोवभत्तं तु ॥

प्रकटकसेवाके बा ह्यतिंको रूपाकारकसेसे ऊँच गार्हस्थ्य आस्थको दूरकरदिया जाता है तब द्यतोंको धारणकसेसे कषायको दूररकिया जाता है । अर्थात् नृहस्थ आस्थमें ही रूतेहु एमहाघातका धारण नहीं होसकता । अतः बा ह्यतिं पूर्वाकामत धारणसे ही अत्माकी विबुद्धिहोसकतीहै ॥ ९० ॥

अने भूमिपर सोनेकी धिधि कहते हैं -

साधुको तृप अदिके अच्छासे रहित भूमिप्रदेशमें अथवा अपने द्वार मामूली सी अच्छि
भूमिमें, जिसका परिमाण अपने शरीरके बराबर हो, अथवा तृप अदिकी श्रियापर, न उमरको मुख करके
और न नीचेको मुख करके सोना चाहिए ॥ ९१ ॥

धिशेषार्थ -साधुके अर्थात् इस मूर्तुपों में एक भूमिभयन मूर्तुप है उसीका रक्षण यहाँ इतना
है। भूमि तृप अदिके ठकी हुई हो, या भयन कसोवोने राने अपने हाथसे भूमिपर मामूली सी इस
अदि उठे हो और चाह भी अपने शरीरप्रमाण भूमिमें ही या तृप, काठ और पत्थरकी बनी श्रियापर
साधुको सोना चाहिए। किन्तु न तो उमरको मुख करके सीधा सोना चाहिए और न नीचेको मुख करके
एकदम पेटके बराबर सोना चाहिए, क्योंकि इस तरह सोनेसे रानदर्शन तथा दीर्घपात आदि दोषोंकी
सम्भाना रहती है। अतः एक कराटसे या तो दण्डकी तरह सीधा या धनुषकी तरह टेछ सोना चाहिए।
मूलचर (गाथा ३२) में भी ऐसा ही धिधान है। उसे कराटनही बदलना चाहिए ॥ ९१ ॥

खे डेहो कर भोजन कसोकी धिधि और काठका प्रमाण कहते हैं -

जिके अदि और उतकी तीनतीन छे काठ छेडकर, जिके मध्यमें खे डेहो कर और भीत,
स्त १ अदिका सहाचन लेकर एक बार एक, दो या तीन मूर्तु तक अपने हाथसे भोजन करा चाहिए ॥
९२ ॥

धिशेषार्थ साधुके अर्थात् इस मूर्तुपों में एक मूर्तुप स्थिति भोजन है और एक मूर्तुप एक इतर
है। यहाँ इन दोनों रक्षण मिलकर कहा है। किन्तु मूर्तुपोंमें दोनों का

अर्थात् पुण्ड्रिका कुण्डलिका जपे प समपायं ।

पञ्चुधे भूमिति एअसपं त्रिदशो वपं पाम ॥ [मूलचरगा . ३५, ३४]

अनेयं टीकोवका धिशेषयाख्या ति ख्यते -समपाव ज्जटिपुटां न सर्वा
एक इतर कारि मुहूर्तमात्रे इति धिशेष्यते किन्तु भोजनं मुनेर्धिशेष्यते । तेन त्रिमुहूर्त काले च यव बुद्धते
तव तव समपादं कृत्वा ज्जटिपुटेन बुद्धीत । यदि पुनर्भोजनक्रियायां प्राख्यायां समपावे न धिशेष्यते
अर्थात् पुटं च धिशेष्यते हस्तप्रधाने कृते इति तावन्ती जानूपरियतिक्रमो यो अमनतचयः पक्तिः स न
स्यात् । नाभेस्यो निर्गमनं यो इतरचयः सो इति न स्यात् । अतो जायते त्रिमुहूर्त मध्ये एकत्र भोजनक्रियां
प्रास्थ केचित् कारणातरेप हस्तौ प्रक्षय मौनेनान्तरं चच्छेद् भोजनय यदि पुनः सो इतरचयो
बुद्धनास्यैकरं कृतीति मन्यते जानूत्तिक्रमधिशेषपमनार्थकं स्यात् । एतं धिशेषपमुपादेयेत ।
समपादयोर्मना इति चोक्तचयः स्यात् । नाभेस्ये निर्गमनं दूस्त एतं संकृतीति ।
अतरचयपश्चिचयमार्थकं इहपं स्यात् । तथा पाके किञ्चिद्ग्रहपमित्येवमादिनतरचयख्यापकानि
सूत्रिणि आर्थकानि स्युः । तथा ज्जटिपुटं यदिना भिक्षो करेप किञ्चिद्ग्रहपमनतचयस्य धिशेषपमनार्थकं
स्यात् । मूर्तुपुटां मा वा अर्थात् पुटभेदानातरचयः स्यादित्येवमुच्यते । तथा ज्जटाधः परमर्षः
सो इतरचयस्य धिशेषपं न स्यात् । एतन्ने इतरचयाम् न स्यु रिति ॥ ९२ ॥

रुद्राणां देवतायां से पृथक्पृथक्कहा है। और टीकाकारों अपनी टीका में विस्तार से प्रकाशित है वह यहाँ जाता है पहले स्थिति भोजनका रुद्राणां कहा है - जिस भूमि उपदेश पर अहार देनेवाला खड हो, जिस भूमि उपदेश पर अहार देनेवाला खड हो और उा दोनों केबी एक जो भूमि उपदेश है जिसपर फूला विस्ती है ये तीनों भूमि उपदेश जीवाहिसा अदिसे रहित होने चाहिए। ऐसे परिषुद्ध भूमि उपदेश पर भी अदिका सहास न देते हु एदोनों पैरों केमध्यमें घर अंगुठका अतर रखते हु एख डेहो कर अपने हाथों की अंजलि बनाकर जो भोजनकिया जाता है उसे स्थिति भोजन नामक द्रव कहते हैं। एक भोजनका काल तीन मुहूर्त है। किन्तु साधु तीन मुहूर्त तक समपाद होकर अंजलिपुटकेसाथ खड नहीं रहता। इसका सम्बन्ध भोजनकेसाथ है। अतः तीन मुहूर्त कालमें उक्त साधु भोजन करता है तब दोनों पैरों को बरकर रखकर अंजलिपुटसे भोजन करता है। यदि समपाद और अंजलिपुट भोजनकेदिशेषपना हों तो भोजनकी क्रिया प्राप्त होनेपरहाथ पे देनेपर जो जानुपरिवृत्तिक्रम और नामि ५ अंगोनिर्मना नामक अतस्य कहा है वो नहीं हो सकते। इससे ज्ञात होता है कि तीन मुहूर्तकेभीतर एक जाह भोजनकी क्रिया प्राप्त करनेपरहाथ धोनेपरकिसी कारणसे भोजनकेदिशेषपना मौनपूर्वक अयत्न जाता है तीथी अत दोनों अतस्य हो सकते हैं। यदि यह अतस्य एक ही स्थानपर भोजन करते हु एहोता है एण्सा मानते हो तो जानुपरिवृत्तिक्रम - अर्थात् दृष्टो प्रमाण ऊँची किसी वास्तुको तं स्पर्श करता - विशेषपर्य्य होता है। तब ऐसा कहना चाहिए एथा यदि दोनों समपादकिसी भी द्धित हो जायें तो भोजनमें आतस्य होता है। इसी तरह नाभिसे नीचे होकरनिकरना आतस्य भी भोजन करते समय सम्पन्नानी है। अतः उसका भी ग्रहपर्य्य हाता है। तथा पेसे कुछग्रहपकसा 'यह अतस्य भी नहीं बनाता। तथा यदि भोजनके समय अंजलिपुटनहीं छूटता तो हाथसे कुछग्रहपकसा 'यह आतस्य नहीं बनाता। ऐसी स्थितिमें तो हाथसे कुछग्रहप करे या न करे, अंजलिपुटकेदूटोसे आतस्य होता है ज्ञाना ही कहना चाहिए एथा। इसी तरह 'जानुसे नीचे छूना' यह आतस्य भी नहीं बनाता सी तरह अय भी अतस्य नहीं बनाते। सिध्दकित कसोंसे पहले यदि इस प्रकारके

अथ किमर्थ स्थिति भोजनमनुष्येयत इत्याह -

यथात्करै पुटीकृत्य भोजतुमुदःक्षमे आयहम् ।

तदन्वैवान्दथेत्याह संवमार्थ स्थिता शनम् ॥

पुटीकृत्य - भोजनीकृत्य संयो जटा । क्षमे - शक्तनोम्यहम् । अथि -- बुज्जे । अहू संवमार्थ - द्वांदिषप्रति ईशमिन्द्रिप्रप्रापसंवमार्थ ६ । अतः का घस्ती कयाम् - यथाद् हस्तपावै म संवाहवस्ता वावहाग्रहपं यो यं नान्दथेति ज्ञापनार्थ स्थितस्य हस्तायां भोजनम् । उपदिष्टः सन् ५ ज्ञोनान्यहस्तेन वा न बुज्जे इमिति प्रतिर्थ ६ । अयच्छकास्तं बुध्दं क्वाति । अतस्ये सति बहोदिशर्कनं दना क्वाति । अथथा पा मी सर्वाहासू र्णात्यजेत् । तच्छेषः स्यात् । इन्द्रियसंयमप्रापिसंयमप्राप्त्यर्थं स्थितस्य भोजनमुक्तमिति । -- मू लकारटी . ११ . ४४ ।

एतदेव च वैशेष्याख्यायि--

यद्दाम्ने स्थिति भो ऋते इति दृढता पाप्योश्च सं भो ऋते ,

भुञ्जे तदाहं रहाम्यथ विषयोषा प्रति ज्ञ यते :।

काये इयस्पृहये तसो ऽत्यधीषु प्रो ल्हासिना सम्मते -

न हेतोर्ना किं स्थितिर्न नस्केसं प च्छे तद्धिा ॥ [पञ्च.पञ्च . १/४३] ॥ ९३ ॥

अतश्च होते हैं तो उसे अतश्च नहीं माना जाता। यदि वैसे माना जाये तो साधु को भो ऋते ही कसा दुर्क भो जाये। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि जब तक साधु सिद्धभक्ति नहीं करता तब तक बँटकर और पुनः खड होकर भो ऋते कर सकता है, मां स अदि देखेनेपर तथा से का अदिका शब्द सुनकर भी भो ऋते कर सकता है अर्थात् ऐसी दृष्टिआँ यदि सिद्धभक्ति कसो से पहरे होती है तो उसे अतश्च नहीं माना गया दूसरे मू रूप एक भक्तके सम्बन्धमें अन्वय अने सां विषेय करे ॥ ९२ ॥

अने खडेहोकर भो ऋते कसो का क्या कारण है, यह बत मते हैं -

वेनों हाथों को भि मकर तथा खडेहोकर भो ऋते कसोमें जब तक मैं समर्थ हूँ तब तक भो ऋते करूँगा, अथवा नहीं करूँगा, इस प्रकार की प्रतिज्ञाके निर्वाहके लिए तथा इन्द्रिय संयम और प्रापिसंयमके लिए मुनि खडेहोकर भो ऋते करते हैं ॥ ९३ ॥

विशेषार्थ -मूता घर (गा . ३४) की टीकामें कहा है -- जब क मेरे हाथ यैर समर्थ हैं तब तक मैं अहार ग्रहण कसोकेयो य हूँ अथवा नहीं, यह बत मानेके लिए खडेहोकर हाथमें भो ऋते करना कहा है। तथा मैं बँटकर पाऊँ या दूसरेके हाथसे भो ऋते नहीं करूँगा, इस प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिए उक्त प्रकारसे भो ऋते कहा है। दूसरे अपनी हथेली शुद्ध होती है। यदि भो ऋतेमें अतश्च हो जाये तो बहुत फूटा वे जा नहीं होता। भो ऋतेपाऊँ कसोपर यदि अतश्च आ जाये तो भि थाली भी वे डी पडसकती है। और इसमें बहुत दोष है। इसके साथ ही इन्द्रिय संयम और प्रापिसंयमका पान कसोके लिए भी खडे होकर भो ऋते कसा कहा है। बँटकर अश्मसे भो ऋते कसोपर अधिक भो ऋते भी हो सकता है। अर्थात् ऐसी आस्थामें आनाक मद इन्द्रियों को संयत बना सकता है। पञ्च.पं. ६.में कहा है -'जब तक मुझमें खडे होकर भो ऋते कसो तथा वेनों हाथोंको जो खर रखनेकी दृढता है तब तक मैं भो ऋते करूँगा, अथवा अहारको छेडूँगा। यह मुनिकी प्रतिज्ञा होती है। क्योंकि मुनिकी चित्त अपने शरीरमें निस्पृह होता है और

अथ स्थिति भो ऋते-विषयमाह -

प्रकात्य कसै मौनेमाय र्गं शब्दात्ते च्छेवाद्यत् ।

चतु रडनात रसमग्रमः सहा ज्यतिपु टस्त वैव भोत् ॥ ९४ ॥

अर्थात् कीटिकादिसप्रपदिनिमित्तमाश्रित्य ॥ ९४ ॥

अथैक श्वतैकस्थानासो र्ने र्निर्णयमाह -

शु धे पा वे त्वृष्टपातपरिषकभू च्चे ।

भेवतु :परेऽयेकभवतं सयात्तो कस्थानभे कत : ॥ ९५ ॥

शु धे-जीवहाधारिकिरहिते ।परेऽपि -य ऋवै भो ज्ञात्रिणा प्रा रखा ततोऽ य ऋपि ॥ ९५ ॥

अथैकभवतानाम् ऋगु पा देकस्थानस्योत्तरुपत्तुोप्यनात स्माह -

अकृत्वा पा कीक्षेपं मुञ्जन्स्योत्तरे गुपः ।

एकस्थानं मुनेरेकभवतं दानिदतास्पदम् ॥ ९६ ॥

समाधिपूर्वाक मरणमें वह अनन्तकाल अनुष्ठा करता है । इस विधिके द्वारा मरण करके वह स्वर्ग जाता है और इस के विरुद्ध अक्षरों से नास्कमें जाना होता है' ॥ ९३ ॥

ख डेहो कर भो ज्ञा कसो की विशेष विधि कहते हैं -

हाथ धो कर यदि भो ज्ञाके स्थानपर घी टी अदि द्रव्यते फिरते दिखाई दें ,या इसी प्रकार का कोई अन्य मिमित्त उपस्थित हो तो साधुको मौनपूर्वक दूधरे स्थानपर बैठ जाना चाहिए । तथा जिस समय भो ज्ञा करें उसी समय दोनों पैरों के मध्यमें घन अंगुष्ठक आतर रख कर तथा हाथों की अङ्गुलियाँ बनाकर खे डेहोवें । अर्थात् ये दोनों विशेष केवल भो ज्ञाके समयके लिए हैं । जितने समय तक साधु भो ज्ञा करें उतने समय तक ही उन्हें इस विधिसे खडे रहना चाहिए ॥ ९४ ॥

अथैकभवत और एकस्थानमें भेदबतितते हैं -

जहाँ मुनि अपने दोनों पैर रख कर ख डे होता है ,जिस भूमिमें अहार देनेवाला ख डे होता है तथा उा दोनों के मध्यकी जिस भूमिमें जूठा निस्ती है ये तीनों भूमि प्रदेश शुद्ध होने चाहिए, वहाँ किन्ही जीवा-जन्तुओं का विहरण नहीं होना चाहिए जिससे उाका दूध हो । ऐसे से स्थानपर हाथ धो कर ख डे होनेपर यदि साधु देखता है कि ये भूमियाँ शुद्ध नहीं है तो वहाँसे दूधरे शुद्ध स्थानपर जाकर उक्त विधिसे भो ज्ञा करता है । ऐसे भोजनको एकीकृत कहते हैं । किन्तु यदि उसे दूधरे स्थानपर जाना नहीं पडा और प्रथम स्थान ही शुद्ध मितता है तो उस भोजनको एकस्थान कहते हैं ॥ ९५ ॥

विशेषार्थ -एकस्थान और एकभवतमें पादसंस्कार करने का क्रम है । एकस्थानमें तीन मुहूर्तों के अन्तर्गत पादसंस्कार करके भोजन करना एकस्थान है और तीन मुहूर्तों के अन्तर्गत एक खे डे के आधारे से रहित होकर भोजन एकभवत है । यदि दोनोंको एक माना जायेगा तो मूर्तगुण और उत्तरगुणमें भेद नहीं रहेगा । किन्तु ऐसा नहीं है , ऐसा हाने पर प्रायश्चित्त शास्त्रसे विशेष जायता है । प्रायश्चित्त शास्त्रमें एकस्थानको उत्तरगुण और एकभवतको मूर्तगुण कहा है ॥ ९५ ॥

अथैकभवतकारणं इती वातको कहते हैं -

एक स्थानसे दूसरे स्थानपरना जाकर एक ही स्थानपर भोजन करने का मुनि एक स्थान
उत्तरुप है । और जहाँ भोजन का स्थान अनिश्चित होता है , निमित्त एक

स्पष्टम् ॥ ९६ ॥

अथ तु ऋषयः तद्वपुः फलं चोपदिशति -

नैस ख्याया क्ना इहि सादुखा यासाय ना म्नात् ।

हस्तेनोत्पात्तं श्मसू र्ध्वं ज्ञानां यतेर्म तम् ॥ ९७ ॥

उत्तरं ६ -

'काकिण्या अपि सं ग्रहो न दीहितः क्षौरयया कायं ते ,

चित्तकेपकृदस्त्रमात्रमपि वातत्सिद्धेनाश्रितम् ।

हि साहेतुसो जटा वृषि तथा यू कश्चिस्त्राश्रयै-

दौरयार्किर्षनाय यतिभिः केषु लो कृतः ॥' [पञ्च.पञ्च. १/४२] ॥ ९७ ॥

अथास्नानसमर्थनार्थमाह -

न ह्यह्यारिपमर्थो विशेषात्त्ववर्षिनाम् ।

उच्यते दृष्ट्या यदावेषं सापिमतार्हवैः ॥ ९८ ॥

उत्तरं ६ से सोमकेपडिखौ :-

'ह्यार्योपपन्नानामध्यात्मादा रक्षेतसाम् ।

मुनीनामस्नानमप्राप्तं वेषे त्वास्वदिधिर्मतः ॥

स्थानसे दूसरे स्थानपर जाकर भी मुनि भोजन कर सकते हैं वह एक भक्त मुनि का मूल रूप है ॥ ९६ ॥

अने केषु लो कश्चप और फल कहते हैं -

नमताकी तरु नि सं गता , अथा क्ना , अथा क्ना , अहि सा और दु ख सहनाके अम्यासके दि एमु नि का
अमने सिर और दाढीके बोंको अमने हाथसे उखा ड्नाके लो कमाना है ॥ ९७ ॥

विशेषार्थ - जिस तरु नमताके द्वार प्रयोन हैं उसी तरु पने हाथों से अमने सिर और दाढीके
बोंको उखा ड्नेके भी द्वार प्रयो क्ना है । पहा प्रयो क्ना है नैसं गत । साधु सर्वाथा अपरिग्रही होता है उसके
पास एक कौडी भी नहीं होती तद्वाह दूसरेसे क्षौरकैसे करे । दूसरेसे करनेपर उसे देनेके दि एयदि

किसी से पैसा माँगता है तो वेनाता बरकर होती है । यदि उठा बढाता है तो उसमें ऊँ पैव हाने से अहिं साका पान सम्भानही है । और साइसे अवाश्यक बात यह है किक इससे साधु को कष्ट सहनेका अभ्यास होता है और सुखशील बरकरित इस मार्ग से दूर रहते हैं । कहा भी है --'मुनि ज्ञान अपने पास कौडे मांका भी संग रह नहीं करते जिससे क्षौरकर्म करया जा सके। उस केदि एको अपने पास उस्त र ,कै वि अदि अरु भी नहीं रखते: क्योंकि उसे दित्तमें क्षोभ पैव होता है । वो उठा अँ को भी धारण नहीं कर सकते क्योंकि उठा अँ में ऊँ पडो से उाकी हिंसा अनिहार्य है । इसीदि एकिसी सेना माँको का द्रत वेनेको साधु दैर य अदि बढानेकेदि एकेधों का तों एकस्ते हैं ' ॥ ९७ ॥

अने अस्नान नामकमू रूप का समर्थनाकस्ते है --

जो ब्रह्मर्य द्रतकेपाक हैं उाहें उरकेद्वर शुद्धिकस्ते से क्या प्रयो ज्ञान ,क्योंकि अशुद्धिका कारण ही नहीं है । फिर जो ब्रह्मर्य होनेकेसाथ विशेष रूप से आत्मदर्शी हैं उहे तो उरशुद्धिसे कोइ प्रयो ज्ञान ही नहीं है । अथा दोषकेअनुसार जैन तो उरशुद्धि भी करते हैं ॥ ९८ ॥

संने कापाकिने ऋषी दण्डश्च इतिविधिः ।

अपुत्रुत्व दण्डात् स्नाया जपेनान्त्रमुपोषितः ॥

एकान्तरं चिरात् वा कृत्वा स्नात्वा इतुर्थके ।

किं शुद्ध्यन्त्यसं देहमृतौ इत गताः सिद्धयाः ॥' [सो . उपा . १२६-१२८ श्लो .]

अपि न --

घ्नान्नेमवेन्मत्ताः स्त्रीपां ये वाङ्मार्तिनः ।

न ते कोना शुद्धयन्ति स्नातास्तीर्थ शतैरपि ॥ ॥ ९८ ॥

अथोक्तत्रिणापां यथात्कुप्टनो फलमाह--

नित्वा नेमित्तिकी श्चेत्यदितथ कृति कर्मा उा ह्युतोता ,

भवत्या यु उते क्रिया यो यति स्थापस्मः श्रदाकोन्म्यो श्य शक्त्या ।

स श्रेय प्रविष्मा त्रिभिश्च नस्सुखः साधु योगो जिज्ञता उे

भवः प्रकीपकर्मा दारुति कतिपर्यैर्नभिरिर्नभपास् ॥ ९९ ॥

अथ :- (श्रदाकः) मध्यमो उरुदो वा । श्रेय प्रविष्मां -पुष्यपाकेन निर्दृक् । अग्रं -प्रधनो श्यः ।

यो न :-

समाधिः । कतिपर्यैः -- द्विभैः सप्ताष्टैर्वो -- उरतं न --

'अरहि उम केइ न उदिहारहपा एउं सारं ।

उवासि से सपुण्णा सदाहुपिवाशिपो हों ति ॥

द्विशेषार्थ :-स्नान शारीरिक शुद्धिके लिए किया जाता है । गृहस्थाश्रममें शारीरिक अशुद्धिके कारण रहते हैं किन्तु गृहत्यागी, वन्यासी, ब्रह्मचारी साधुकी अत्मा ज्ञानी निर्मल होती है कि उनकी शारीरिक अशुद्धिका प्रसंग ही नहीं आता । स्ना शरीरकी मलिनता । उस ओर ध्यान देना और उसको दूर करके शरीरको शुद्ध करने हैं । अत्मदर्शी साधुका लक्ष्य उस ओर जाता ही नहीं । फिर भी यदि कोई शारीरिक अशुद्धिकभी होती है तो उसे शुद्ध करते भी हैं । कहा है - ब्रह्मचर्यसे युक्त और अत्मिक अंगसमें तीन मुनियों के लिए स्नानकी आवश्यकता नहीं है यदि कोई विशेष जाता है तो उसका विधान है । यदि मुनि वामनागी का पातिकांसे, रजसामस्त्रीसे, पाण्डु और मूच्छा गैरहसे छू जायें तो उन्हें स्नान करके, उपवासपूर्वक काशोत्सर्गके कर मन्त्रका रूप करके चाहिए । व्रती स्त्रियाँ ब्रह्मका तमें एकाग्रता अथवा तीन दिशाका उपवास करके चौथे दिशा स्नान करके निश्चिन्त बुद्धि हो जाती है । किन्तु जो रजस्रक्षोभके मत्से कामत हैं और स्त्रियोंके सङ्गमें रहते हैं वे संकट तीर्थोंमें स्नान करके पर भी कभी शुद्ध नहीं होते ॥ ९८ ॥

अने उक्त क्रियाओं के शान्तिानुसार पाठना करके फल कहते हैं -

जो मुनि अथवा उकृष्ट या मध्यम या जघन श्राद्धाकसचे कृति कर्म नामक अथवा हाश्रु तमें कही हुई ज्ञानित्व और नैमित्तिक क्रियाओं को अपनी शक्तिके अनुसार शक्तिपूर्वक करता है वह ऋषि जीवापुष्य कर्म के विपाकसे इंद्र और ब्रह्मर्षीके सुखों को भोग और सम्यक्समाधिपूर्वक शरीर छोड़कर दो तीन या सात-आठ ऋषियोंमें ज्ञानादास्य अदि अठकर्मोंको सर्वाशान्ति करके संसास्केपार अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करता है ॥ ९९ ॥

द्विशेषार्थ - मुमुक्षुको चाहे वह मुनि हो या उकृष्ट, मध्यम अथवा जघन श्राद्धाकहो, उसे अत्मिक धर्म साधनाके साथ नित्य नैमित्तिक क्रियाओंको भी करना चाहिए । ये

जेशिं हो ज्ज उहण्णा उद्विहा र हपा हु ख्वासापं ।

सत्तद्धो णं तुं ते दिय पहाति पिट्वापं ॥

[अश्वनासार गी . १०८-१०९] ॥ ९९ ॥